नारी समस्या

श्रीमती राधादेवी गोयनका
'विशारदा'

प्रकाशकः—
मारवाड़ी सेवासदन
अकोला (बरार)

प्रथम संस्करण
सन् १९४६
मूल्य ४)

मुद्रक—
बृजभूषण चतुर्वेदी
एम. ए. एल-एल. बी.
कर्मवीर प्रेस, खण्डवा.
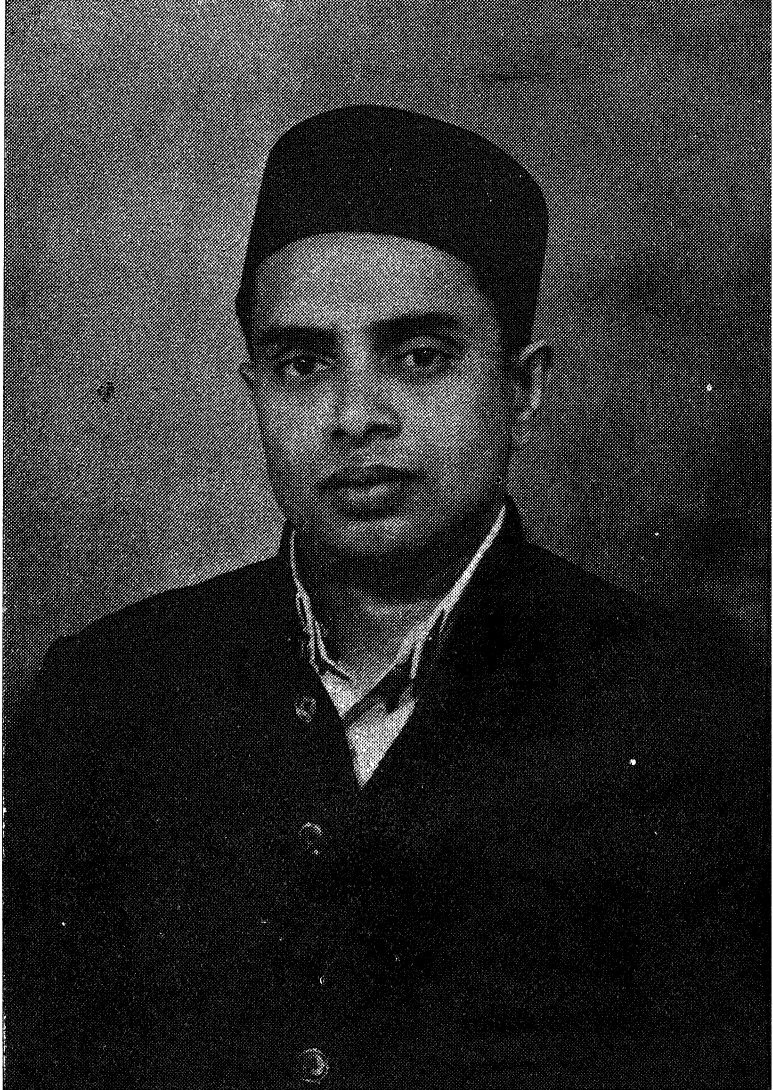
श्रीमान् किशनलालजी गोयनका

समर्पण

मेरे

नवजीवन के निर्माता

और प्रत्येक सफलता

की पृष्ठ भूमि में स्वयं

साक्षीमात्र द्रष्टा के रूप

में छिपकर रहनेवाले,

प्रेरक शक्ति

श्री सेठ किसनलालजी

गोयनका को हिन्दी के

अमर राष्ट्र-कवि की

पाई तुम्हीं से वस्तु जो
कैसे तुम्हें अर्पित करूँ ?
पर क्या परीक्षारूप में
पुस्तक न यह आगे धरूँ ?

इन पंक्तियों के साथ

सादर, सप्रेम······

विषय सूची

—*—

मेरे दृष्टिकोण से—

मैंने श्रीमती राधादेवी गोयनका की "नारी–समस्या" नामक पुस्तक सम्पूर्ण पढ़ी। इसमें ज़रा भी संशय या अतिशयोक्ति नहीं कि यह पुस्तक स्त्रियों के लिये अत्यन्त उपयोगी है तथा सच्ची लगन और स्त्री–जाति की प्रगति की भावना से प्रेरित होकर लिखी गई है। इसके प्रत्येक वाक्य में स्त्री–सुधार की भावना, स्पष्ट भाषा शैली, और लेखिका के मन में स्थित आर्य–संस्कृति के दर्शन होते हैं। भारतीय नेता और 'कर्मवीर' के प्रसिद्ध सम्पादक पंडित माखनलालजी चतुर्वेदी ने इच्छा प्रगट की कि एक स्त्री लेखिका की ऐसी पुस्तक पर एक महिला को ही भूमिका लिखनी चाहिये। मेरे विचार में यह एक गम्भीर और मार्मिक बात है। मेरा तो स्वच्छ और सीधा मत यह है कि एक स्त्री लेखिका की नवीन और पहिली श्रेष्ठ पुस्तक पर एक महिला द्वारा मत व्यक्त करने का पथ सम्मान, मनोभाव और विचार, इन तीनों दृष्टियों से जिस तरह जोखिम से भरा हुआ है, उसी तरह महत्व का और स्पष्ट दिशा दर्शन का भी है।

स्त्री–सुधार का प्रश्न समाज के सामने उपस्थित है। यह प्रश्न उतना ही प्राचीन है जितना यह संसार। इस पर दो मत नहीं हो सकते कि इस प्रश्न को हल करने का प्रयत्न, सब से पहिले हमारे समाज–सुधारक बन्धुओं ने ही बड़ी लगन के साथ किया। इसके बाद ही स्त्री शिक्षा की वृद्धि के साथ अनेक विदुषी स्त्रियों के इस विषय पर मत व्यक्त होने लगे। जिस प्रान्त को सबसे पहिले अंग्रेजी भाषा के शिक्षण का लाभ मिला, वहाँ के लोगों की मनःस्थिति में पड़ने वाले अन्तर का द्योतक यह स्त्री–सुधार शब्द प्रचारित हुआ। इसमें मतभेद नहीं हो सकता कि यदि किसी विद्वान पुरुष को एक मूर्ख स्त्री के साथ जीवन बिताना पड़े तो उसकी गृहस्थी की शोभा और सौन्दर्य अपूर्ण और अव्यक्त रह जाते हैं। जिस स्त्री जाति को प्रकृति ने, विपुल सात्विक बल, अद्भुत आकर्षण शक्ति, और कोमल भावनाओं से युक्त मातृ-हृदय दिया है, उसे अशक्त, दुर्बल और हीन बतलाने का प्रयत्न निष्फल है, अशक्य है, प्रकृति के विरुद्ध विद्रोह है। जो लोग स्त्री को पुरुष के इंगित पर चलने वाली वस्तु मात्र मानते हैं, उन्हें अपनी संसार–यात्रा में श्रेष्ठ मार्ग पर चलने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ। जीवनान्त पर्यन्त ऐसे व्यक्ति अभागे

ही रहते हैं। स्त्री–सुधार और राष्ट्र-प्रेम के द्योतक कांग्रेस के प्रथम आन्दोलन में यह बात स्पष्ट रीति से समाज के सामने आगई कि समानाधिकार के विवाद की अपेक्षा खरा कर्तव्य पालन ही अधिक महत्वपूर्ण है। उससे स्त्रियों का दर्जा बढ़ा और उनके मन में भयंकर क्रांति उत्पन्न हुई। इसमें पद, योग्यता अथवा सम्पत्ति की लालसा नहीं थी, राष्ट्र-प्रेम और कर्तव्य की भावना ही इसमें समान-रूप से दृष्टिगोचर होती थी।

प्रथम तो स्त्रियों को दारुण निराशा, प्रचण्ड अपयश और असह्य अपमान का सामना करना पड़ा। वे उचित मार्ग ढूँढ रही थीं, लेकिन वह मिलता नहीं था। श्रेष्ठ सिद्धान्त सामने थे, लेकिन मन की अस्थिरता के कारण वे क्षण भर में ही वायु-लहरों की तरह विलीन हो जाते थे।

मनुष्य का जीवन क्षणिक ही है। कब, कैसे और कहाँ उसका अन्त हो जायगा, इसका किसी को भी कुछ पता है? मानव, सृष्टि के आदि से ही अपने जीवन को सुन्दर और उपयुक्त बनाने का लगातार प्रयत्न कर रहा है। लेकिन उसकी सफलताओं पर विचार करने से क्या पता चलता है? मानव की विचार शक्ति परिमित और संकुचित है। आज भी यह बात उतनी ही सत्य है जितनी युगों पूर्व थी। ऐसी ही परिस्थितियों में स्त्री–समाज भी पड़ा हुआ है। उसकी बुद्धि का विकास, उसका सामाजिक अधिकार और जीवन-विषयक प्रश्न बड़े उलझन में पड़े हैं। ऐसे अनेक झगड़ों और अनिष्टकारक रीति–रिवाज़ों की चर्चा इस पुस्तक में की गई है, जिसके लिये लेखिका अभिनन्दन की पात्र हैं। लेखिका ने कितने ही रीति-रिवाजों और रूढ़ियों की उचित आलोचना, बड़ी ही समर्पक भाषा में की है। भारतीय संस्कृति का सम्पूर्ण अभिमान, स्त्रियों की प्रगति का सात्विक अभिमान और उनको गढ़नेवाली सच्ची असुविधाओं को अत्यन्त सुन्दर भाषा में व्यक्त किया गया है।

इसमें एक वाक्य भी ऐसा नहीं है जिसमें झूठा अभिमान, कट्टर दुराग्रह अथवा लेखिका का 'मैं' हठपूर्वक बोल रहा हो। प्रखर बेचैनी और साथ ही उत्तम संयम के साथ लेखिका ने इस बात का प्रयत्न किया है कि स्त्री-प्रगति के सुधार की दिशा स्त्रियों को पट जाय। महिलाओं के जीवन में प्रतिदिन घटने वाली बातों का, समाज-सुधार में कैसे उपयोग किया जाय इस पर उत्तम विचार व्यक्त किये गये हैं।

इन विचारों में बन्धन, पवित्रता और सादगी का सौन्दर्य, खुला दृष्टिगत होता है। हम ऐसा क्यों न समझें कि आज की स्त्री यदि अपनी संकुचित भावनाओं को

छोड़कर स्वयं को विशाल भारत का एक घटक और अन्तर्राष्ट्रीय परिवर्तनों का एक सजीव प्रेक्षक बनाने की योग्यता प्राप्त कर ले तो वह महान यश की अधिकारिणी है। इससे भी आगे जिन्हें जाने का सौभाग्य प्राप्त हो वे स्त्रियाँ धन्य हैं। किन्तु गृहस्थी बसाने के बाद सभी से इतना नहीं सध सकता, इससे निराश होने की कोई आवश्यकता नहीं। दीर्घ आशा, सु-विचार का बल और पवित्र शिक्षा के आश्रय में भारतीय महिला किसी से भी घटकर नहीं है। उनकी दैवी शक्ति आज लुप्त हो गई है, उनकी बुद्धि को कांजीहौस में बन्द करके उनके बौद्धिक जीवन को गढ़े में डाल दिया गया है, और उनके जीवन में होने वाली हानि को जानकर भी, बन्धुवर्ग, अपने स्वार्थवश उनकी ओर दुर्लक्ष्य कर रहा है। इतनी अड़चनों में से अपना रास्ता निकालने की शक्ति स्त्री को स्वयं ही एकत्रित करनी होगी।

संसार के सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति के जीवन में मुख्य आधार उसकी माता ही होती है। युग-प्रवर्तक परमहंस रामकृष्ण की माता को धन्य है। स्त्री-जीवन को उन्होंने महान गौरव प्रदान किया है। संस्कृति, वीरता और सतीत्व में भी स्त्रियों के नाम अजरामर हैं। विद्या, सङ्गीत, लेखन, वक्तृत्व इनमें से ऐसा कौनसा क्षेत्र है, जिसमें नारी ने गौरव न पाया हो। कभी उन्नति और कभी अवनति; ये दोनों इस सृष्टि की सन्तानें हैं। इन दो अवस्थाओं में से गुजरने के सिवा मानव को दूसरी गति नहीं है। आज हमारा स्त्री-समाज भी पतन, दासता और अज्ञान की कैद से बाहर निकलने का भगीरथ प्रयत्न कर रहा है। उसका फल मिले बिना कैसे रहेगा। दोनों बाजू बलवान, बुद्धिमान और प्रगतिशील हुए बिना, 'समाज-सुधार' शब्द अर्थ-रहित और हास्यास्पद है।

मनुष्य का स्वभाव ही ऐसा है कि वह सबसे पहले बाह्य सौन्दर्य को देखता है; किन्तु अन्तःकरण की भावना और विचारों की ओर उसका ध्यान देर से जाता है। और इस प्रकार मानव अपना आत्मघात स्वयं करने की तैयारी करता है। शिक्षा-प्रसार समाचार पत्र और सभा-सम्मेलनों के कारण अनेक स्त्रियों के आचार-विचार में परिवर्तन होना प्रारम्भ होगया है। प्रान्तीयता का भाव छोड़कर एक दूसरे के निकटतर आने का प्रयत्न जारी है। इन सारी हलचलों के परिणाम स्वरूप ही समाज-सुधार की प्रवृत्ति बढ़ती है। संसार की प्रगति के साथ ही साथ समाज की भी प्रगति हो रही है। मेरे ख्याल से यदि स्त्रियों को अनुकरण करना हो तो एक मनोवेधक प्रान्तीय गुण प्राप्त कर लेना चाहिये। इस दृष्टि को सामने रखकर नीचे दी हुई कल्पित रूप-रेखा अनेकों को मान्य होगी।

गृहकार्य और सादगी में मद्रासी, महाराष्ट्र और गुजराती महिलाओं को सर्व प्रथम स्थान देना पड़ेगा। विद्या, कला और राष्ट्र-भक्ति में बंगाली महिलाएँ अग्रसर हैं। सौन्दर्य, बलिष्ठ शरीर और वीरता के गुण पंजाब से लिये जा सकते हैं। इसके सिवा प्राचीन भारतीय अतिथि सत्कार की भावना भी वहीं मिलेगी। अत्यन्त सात्विक, सुखी और निर्मल भोलेपन, पवित्र सादगी से जीवन बिताने में ही आनन्द मानने वाली स्त्री उत्तर हिन्दुस्तान में देखने को मिलेगी। राजपूताना और मारवाड़ की स्त्रियों में समाज सुधार का कार्य प्रारम्भ होगया है। उनसे अन्य प्रान्त की स्त्रियाँ रजपूती तेज और मारवाड़ी औद्योगिक ढङ्ग सीख सकती हैं। उनसे पर्दा-प्रथा, लड़कियों के जन्म से खेद, और देर से होनेवाला शिक्षा-प्रसार ये सब दोष दूर किये जा सकते हैं। इन सारी प्रान्तीय भावनाओं के मेल से भारतीय आर्य ललना का निर्माण होगा। बङ्गाली स्त्रियों की केश-रचना, माँग में सिन्दूर भरने की रीति, मद्रास में बालों में पुष्प लगाने की मङ्गलमय पद्धति, तथा राजपूताना और मारवाड़ में छोटी-छोटी लड़कियों के पांवों में अलंकार पहिनाने की प्रथाएँ, इन्हें कौन बुरा कहेगा? परन्तु ये सारी बातें देश, काल और अवसर देखकर करने से आर्य ललना देवी स्वरूप हो सकती है। स्त्री की सोई हुई शक्ति को जागृत करने का काम पति का है। 'पत्नी कैसी हो' इस बात के विवेचनशील पति को तदनुरूप जीवन व्यतीत करना चाहिये। हमारे यहाँ की स्त्री को विचार-स्वातंत्र्य प्राप्त है, लेकिन उसका उपयोग करने की उसकी शक्ति कुंठित हो गई है। इसीलिये प्रारम्भ में गृहस्थी में स्वतन्त्रता और बाद में सामाजिक समानाधिकार के प्रश्नों पर ध्यान देना उसके हित में पड़ता है।

कष्ट उठाये बिना जिस प्रकार स्वराज्य नहीं मिल सकता उसी प्रकार विचार और विवेक के बिना स्त्रियाँ भी स्वतन्त्र नहीं हो सकतीं। जन्म से लेकर जीवन के अन्तिम क्षणों तक स्त्री के जीवन—रस का उपयोग करना ही स्वार्थी समाज का ध्येय है। उसे सच्चा विकास, उचित संरक्षण, और जीवन-यात्रा में योग्य सहचरी का स्थान मिलने में अनेक अड़चनें दीखती हैं। इसका निवारण साक्षर स्त्रियों को करना चाहिये। इसीमें गृहराज्य का उदात्त तत्व भरा हुआ है। सृष्टि की रचना ही ऐसी है कि उसमें अनेक प्रकार के परिवर्तन होते ही रहते हैं। वहाँ चिरन्तन कौनसी वस्तु है? यह सारी परिस्थिति देखकर कितनी ही बार मन कुंठित हो जाता है। विचारों में कैसा और कौनसा परिवर्तन करें यह कुछ समझ में नहीं आता!

श्री राधादेवी गोयनका का पुनः एक बार आभार मानते हुए और इसके बाद वे

जो पुस्तक प्रकाशित कर रही हैं, उसकी ओर स्नेह और आदर की दृष्टि रखकर, मैं यह भूमिका समाप्त करती हूँ। उन्होंने साहित्य-मन्दिर में प्रवेश किया है। परमेश्वर उनकी गति को इसी प्रकार कायम रखें, ऐसी मेरी सदिच्छा है।

सरस्वती निकेतन
इन्दौर, सी. आई.

—सौ. कमलाबाई किबे

—*—

दो शब्द

श्रीमंत कमलाबाई किबे के भूमिका लिखने के पश्चात् मेरे लिखने के लिये बाकी कुछ नहीं बचता। सच तो यह है कि 'नारी समस्या' जैसी पुस्तक पर, एक विदुषी नारी का मत ही अधिक उपादेय है।

श्रीमती राधादेवी गोयनका के ये विचार, पुस्तकीय अध्ययन के परिणाम मात्र नहीं हैं। धनिक मारवाड़ी समाज में पर्दा-प्रथा का बहिष्कार का जो आन्दोलन, और समाज में अप्रिय होने का जो खतरा, उन्होंने उठाया, और उसमें जो अनुकूल-प्रतिकूल अनुभव उन्हें हुए, यह पुस्तक उन अनुभवों का चित्रण है। अतः उनका लेखन, समाज के देवी-देवताओं के लिये, भले ही क्रिया की प्रेरणा बने, किन्तु उनके स्वयं के लिये यह लेखन उनकी क्रियाशीलता का अनुगामी मात्र है।

वे इस समय ७ पुत्र-पुत्रियों की माता हैं। उत्तरदायित्व पूर्ण संघर्ष मय जीवन है। उनके बड़े पुत्र श्री मदनलालजी कारबार का संचालन करते हैं। किन्तु राधादेवीजी की अध्ययन प्रियता है कि वे अभी भी परीक्षाओं में बैठ रही हैं। अपने बच्चों की ऐसी माता ने, यदि इस पुस्तक की रचना की है, तो अवश्य यह सोचकर ही कि उनके भी पुत्रवधू हैं, पुत्रियां हैं, और उन पर परिवार का भारी उत्तरदायित्व भी है। गौरव की बात यह है कि उनके इन प्रयत्नों में, उनके पति श्रीयुत किशनलालजी गोयनका का सतत प्रोत्साहन है।

लेखन-यात्रा में यह पुस्तक उनका प्रथम प्रयोग है, जिसमें उनकी लगन प्रतिबिम्बित हुई है। मैं इस कृति पर अपनी शुभाकांक्षा व्यक्त करते हुए, प्रतीक्षा करूंगा कि उनके लेखन का स्तर लगातार उन्नत तर होता जायगा। वे इस वर्ष कांग्रेस की ओर से मध्यप्रान्त धारा सभा की 'एम. एल. ए.' हो गई हैं। मेरा निवेदन है वे राष्ट्र-कार्य और स्वाध्याय के बीच सामञ्जस्य स्थिर कर ले जायेंगी; वे अध्ययन और जन-सेवा की लाँबी यात्रा में राजनीति के कारण विघ्न न पड़ने देंगी।

—माखनलाल चतुर्वेदी

कर्मवीर कार्यालय
खण्डवा, सी. पी.
७-३-४६

लेखिका

पुस्तक के विषय में

नारी-समस्या मेरे इधर-उधर के बिखरे लेखों का संग्रह है। मेरे पति श्री किसनलालजी गोयनका के योरोप–प्रवास से लौटने पर स्थानीय मारवाड़ी समाज में जो भूचाल आया उसने जहां एक ओर मुझे कुछ करने को विवश किया वहां दूसरी ओर कुछ कहने को भी। करने का परिणाम तो न जाने क्या हुआ, कहने का परिणाम 'नारी-समस्या' के रूप में आप के सामने है।

प्रस्तुत लेखों में प्रायः सभी सन् १९३६ से लेकर '४४ तक किसी न किसी पत्र-पत्रिका में प्रकाशित हो चुके हैं। इनमें से कुछ किन्हीं आक्षेप–परक लेखों के उत्तर में लिखे गये थे जिन्हें पुस्तकानुकूल बना लिया गया है; कुछ मेरे सामयिक भाषणों के लेख-वद्ध रूप हैं और कुछ स्वतन्त्र रूप से लिखे हैं। इन्हीं सब का एकत्रीकरण इस पुस्तक में है। अपने मूलरूप में ये निबन्ध मारवाड़ी समाज को उद्दिष्ट कर लिखे गये थे किन्तु राजस्थानी तथा अन्य हिन्दीभाषी बहिनों की अवस्था एवं समस्याओं में विशेष अन्तर नहीं है; अतः साधारण तौर में सभी हिन्दीभाषी बहिनों के उपयोग में आ सकते हैं। आवश्यकतानुसार उन्हें अधिक व्यापक बनाने की चेष्टा की गई है और इस निमित्त कहीं-कहीं मूल लेखों में परिवर्तन भी करने पड़े हैं, तोभी राजस्थानी समाज का अधिक चित्रित हो जाना स्वाभाविक है।

हमारा समाज एक महान संक्रान्ति काल से गुजर रहा है। कहा जाता है और प्रायः स्वीकार भी किया जाता है कि विश्व में घटित होने वाली प्रत्येक घटना का हमारे जीवन पर प्रभाव पड़ता है। विश्व का प्रत्येक भाग आज एक दूसरे से सम्बद्ध जो हो गया है। यह बात सत्य हो, तो भी हमारे समाज के एक छोटे से वर्ग तक सीमित है; वह वर्ग जिसे हम अभिजात वर्ग कहने के अभ्यस्त हो गये हैं। साधनों और सुविधाओं के कारण सारा प्रकाश आकर शहरों के कुछ थोड़े से परिवारों में बद्ध हो जाता है, जन-साधारण तक पहुँचने का उसे अवकाश नहीं।

नारी आन्दोलन का परिणाम भी वही हुआ। पर्दा-निवारण, दहेज, विधवा-विवाह, स्त्रियों का सामाजिक सम्मान इन सब पर कहा बहुत गया, किया कम। और कहा भी जो कुछ गया वह इतने ऊँचे चढ़कर कि उसकी प्रतिध्वनि उन्हीं द्वारों से टकराकर लौट आयी जहां किरणें पहले से ही बिहार करने लगी थीं। समाज का वह अंग जो सब से अधिक अन्धकार में था, अन्धकार में ही रहा। फलतः आज भी हम वहीं के वहीं खड़े हैं।

हमारे समाज में नारियों की तीन श्रेणियां हैं। प्रथम उनकी जो अशिक्षित हैं, रूढ़ि प्रिय हैं, मेहनती हैं और अपनी अवस्था में सन्तुष्ट हैं, और इस सन्तोष का कारण है, उनकी गरीबी, उनकी अशिक्षा और उनके वंशगत संस्कार। अपने सुधार की चर्चा में इन्हें पापाचार दिखाई देता है। इस श्रेणी में अपनी आस्था के अनुसार धार्मिक भावना भी खूब है। दूसरी श्रेणी में वे देवियां हैं जिन्हें हम पाश्चात्य भाषा, वेश-भूषा, रहन-सहन तथा शिष्टाचार से अत्यधिक प्रभावित देखते हैं। यह वर्ग सम्भवतः अतीत के सभी कुछ को 'असामयिक अथवा अनावश्यक' मानकर आगे बढ़ता है। बुद्धि विकास इस वर्ग का खूब हुआ है। प्लेटफार्म पर भी यह वर्ग आगे आया है पर भारतीय नारी समाज तक न यह पहुँच सका और न पहुँचने की कोशिश इसने की। तीसरे वर्ग में पुरातन और आधुनिक का समन्वय है अथवा समन्वय की आकांक्षा है। इनकी वाणी कर्म से सामंजस्य चाहती है। अधिकार के लिये संघर्ष की अपेक्षा विनीत आग्रह पसन्द करती है। यह वर्ग भी प्लेटफार्म तक पहुँचा है और इसी ने समाज के निचले स्तर तक पहुँचने का प्रयत्न भी किया है।

मेरे ये लेख—कहने की आवश्यकता नहीं—द्वितीय वर्ग के लिये न उपयोगी हैं और न उसकी ऊँचाई से समाज को देखने वाले। इनका लक्ष्य प्रथम वर्ग की स्त्रियां मुख्यतः है और तृतीय वर्ग की सामान्यतः। इसी लिये अपनी पाठिकाओं के समान इन लेखों में न सज्जा है, न आलंकारिक सौन्दर्य। उनकी असंस्कृत वाणी के समान कथन में अनेक स्थानों पर पुनरावृत्ति भी होगी। आवृत्ति से बचना सामाजिक चर्चा में कठिन भी है। फिर भी एक बात आप को शायद मिले और वह है सात्विकता, उद्देश की निश्छल पवित्रता। और यही मेरे लिये परम सन्तोष की बात है।

लेख विभिन्न परिस्थितियों और मनःस्थितियों में लिखे गये थे। कई बार ऐसे स्थलों का भी उदघाटन करना पड़ा है जो शायद समाज को न रुचें। कहीं-कहीं कथन में अतिरेक भी संम्भव है। हो सकता है, एकाध स्थल हमारे पुरुषसमाज को कर्ण–कटु लगें। आलंकारिक माधुर्यमयी ऊहा से वहां काम चलाया जा सकता था पर बनावट मुझे न रुची। वैसे नारी-आन्दोलन का विकास पुरुषों का परम कृतज्ञ है। आज यह कौन कहेगा कि उनके तथा नारी के अधिकार और क्षेत्र में संघर्ष है। उनका निर्माण ही इस लिये नहीं हुआ। एक के भाव की सफलता दूसरे के अभाव की पूर्ति में है और यहीं पर अनेक सामाजिक प्रश्नों का समाधान हो जाता है।

लेखों को प्रस्तुत रूप में लाने में स्थानीय विद्यामन्दिर के आचार्य श्री प्रभुदयालजी अग्निहोत्री से बड़ी सहायता मिली है, एतदर्थ मैं उनकी अत्यन्त आभारी हूँ। साथ ही यहाँ मैं श्री भाई ब्रिजलालजी बियाणी के प्रति कृतज्ञता प्रकाश करना अपना कर्त्तव्य समझती हूँ जिनका स्नेहमय प्रोत्साहन मुझे सदा प्राप्त होता रहा है।

यदि इन लेखों से हमारी बहनों का कुछ लाभ हो सका तो मैं अपने परिश्रम को सफल समझूंगी।

—लेखिका

नारी समस्या

प्राय: समाचार-पत्रों तथा सभा-समितियों में नारी-समस्या के सम्बन्ध में जो विचार प्रकट किये जाते हैं उनसे किसी भी सुलझे विचारों के व्यक्ति का आश्चर्य में पड़ जाना स्वाभाविक है। सुधारक बहिनें उत्साह की उमंग में प्राय: ऐसी बातें कह जाती हैं जो एक ओर तो पराकाष्ठा पर पहुँची दिखती हैं; किन्तु दूसरी ओर उनमें व्यापक दृष्टि का स्पष्ट अभाव रहता है। जो लोग अभी तक स्त्रियों की सामाजिक स्वतन्त्रता को शंका की दृष्टि से देखते हैं, वे उपर्युक्त सुधारकों का दूने वेग से विरोध करते हैं। वस्तुत: दोनों दृष्टिकोण ऐकान्तिक हैं; व्यापकता का अभाव लिये हुए हैं।

स्त्री और पुरुष एक दूसरे के पूरक हैं। पुरुष के बिना स्त्री का और स्त्री के बिना पुरुष का सामाजिक ही नहीं मानसिक; और आधुनिक विचार दृष्टि से तो आध्यात्मिक जीवन भी अधूरा ही रहता है। भारतीय धर्म-शास्त्रों में जो स्त्री को अर्धांगी माना गया है, वह फैशन के रूप में नहीं; उसके भीतर मनोविज्ञान का तथ्य निहित है। इसलिये इन दोनों के सामाजिक अधिकारों में जब तक सामंजस्य न होगा, सामाजिक विधानों के भीतर दोनों के सम्मान की रक्षा की व्यवस्था न रहेगी, तब तक दोनों में किसी का भी जीवन सुख-मय नहीं बन सकता। यह स्पष्ट सत्य है। फिर भी जिस प्रकार कुछ वर्ष पहिले "स्वराज्य हमारा जन्म-सिद्ध अधिकार है" कहना अपराध माना जाता था, सरकार के विरुद्ध ज़बान हिलाना ऊखल में सिर देना था, कारागार को आमन्त्रण देना था; (यद्यपि अब भी उस परिस्थिति में विशेष अन्तर नहीं हुआ है;) उसी प्रकार स्त्रियों के ज़रा भी ज़बान खोलने पर, घर से बाहर झाँक लेने पर, या ऐसा कोई कार्य करने पर जिसमें पुरुषों की सरकार की स्वीकृति पहिले से न ले ली गई हो, स्त्रियों का मुँह बन्द कर देने के लिये दंड-विधान की सैकड़ों पुरानी और नई धारायें प्रस्तुत थीं जो आज थोड़ी बहुत ढीली अवश्य पड़ गई हैं,

किन्तु उनका प्रयोग समय-समय पर बराबर होता ही रहता है।

प्रश्न यह है कि आखिर इस अवस्था का उत्तरदायित्व किस पर है? मैं तो जब वर्तमान नारी-समस्या और साथ ही समाज की हीनावस्था पर विचार करने बैठती हूँ तो स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों को अधिक दोषी पाती हूँ। मैंने अपने लेखों में उन्हें इसके लिये उलाहना भी दिया है। जो सत्य के पक्षपाती हैं, धीर हैं वे शांति से सुनते हैं; अपने वर्ग की दुर्बलताओं को स्वीकार करते हैं और कटिबद्ध होकर शताब्दियों से घुन के समान भीतर ही भीतर समाज की शक्ति को क्षीण करनेवाली इन कुरीतियों को नष्ट करने के लिये सामने आते हैं। समाज को चुनौती देकर सफलतापूर्वक कोई कार्य करना रणभूमि में जाकर शत्रु के समक्ष लड़ने से कम कठिन और वीरतापूर्ण नहीं। युद्ध में तो एक बार साहस की आवश्यकता होती है; फिर बाज़ी इधर या उधर। क्षण में कठिनाइयों का अन्त हो जाता है पर यहाँ तो जीवन भर समाज के दंड-चक्र में पिसना पड़ता है। जिन महिलाओं ने धर्म के इन भयंकर ठेकेदारों का विरोध मोल लेकर अन्य कुरीतियों के साथ परदा त्याग किया, उन्हें खूब अनुभव है कि समाज ने उन्हें उदरसात् कर लेने में कितना ज़ोर आज़माया।

आज कई दशाब्दियों के प्रयत्न के पश्चात भी ऐसे कितने वीर मैदान में आये जिन्होंने अपने परिवार से अवगुंठनमयी लज्जा का ही पूर्णरूपेण बहिष्कार कर दिया हो? आज बहुत से तथाकथित सुधारवादी नेता भी इसके लिये नारीसमाज को ही उत्तरदायी ठहराते हैं क्योंकि उनके मत से पुरुषों के हज़ार समझाने और अनवरत प्रयत्न करने पर भी स्त्रियाँ अपने इस जन्मजात गुण को छोड़ना नहीं चाहतीं; प्रत्युत आँचल में ही समेट कर रखना चाहती हैं। ऐसा कहने वाले सज्जन अपनी अन्तरात्मा से प्रश्न कर देखें तो संभवतः उन्हें उत्तर के लिये अन्यत्र न जाना पड़े। उक्त उद्देश्य को लेकर मुझे कट्टर से कट्टर रूढ़ि-वादिनी—यदि वे रूढ़ि का अर्थ समझती हों—महिलाओं से मिलने का अवसर प्राप्त हुआ। मुझे कहीं असफलता नहीं मिली। उन्होंने मेरे संपर्क के अनन्तर परदा त्यागते हुए अपूर्व आनन्द का अनुभव किया। जो ऐसा न कर सकीं उन्होंने शतप्रतिशत अपनी असमर्थता का कारण बतलाया समाज का बन्धन। किन्तु जब वही उद्देश्य लेकर मैं पुरुषों के समक्ष गई तो कुछ ने तो मिलना भी अनुचित समझा, कुछ ने विचार करने का आश्वासन दिया और कुछ ने मेरे कथन को उचित, तर्क-संगत और मान्य तो ठहराया किन्तु समाज की बला बैठे ठाले मोल लेने में बुद्धिमत्ता न समझी।

जो लोग स्त्रियों की संकुचित दृष्टि और दुर्बल बुद्धि का सहारा लेकर स्वयं को झंझटों से पृथक रखना चाहते हैं और साथ ही उज्वल भी, उनका कोई उपचार नहीं; किन्तु जो लोग वस्तुतः स्त्रियों की दुर्बलता को अनुभव करते हैं, उन्हें क्लबों, सभा–सोसाइटियों तथा इसी प्रकार के कोरे मनोरंजनों से समय बचाकर प्रातः-सायं कुछ समय अपनी अर्धांगियों की ज्ञान–वृद्धि में भी लगाना चाहिये। परदानशीन हिंदी भाषी स्त्रियों के साथ उनकी पड़ोसिन गुजराती तथा महाराष्ट्रीय स्त्रियों की तुलना करके उनकी सादगी, उनके सौजन्य तथा गृह-कौशल आदि के आदर्श नारी-जगत के सामने रखने चाहिये। युवक यदि अवगुंठनमयी अपढ़ गुड़ियों से विवाह न करने की प्रतिज्ञा कर लें तो इन कठिनाइयों का मूलोच्छेद हो जाय। इसके लिये उन्हें केवल मानसिक बल की आवश्यकता होगी, किन्तु कुछ न कुछ साहस और बलिदान तो सर्वत्र अपेक्षित होता ही है।

आज कन्याओं के माता-पिता दहेज़ की चिन्ता के कारण कन्याओं की शिक्षा की उपेक्षा कर जाते हैं। युवकों का उक्त साहस सरलता से इस दोष को दूर कर सकता है। वैसे तो अब माता-पिता भी समझने लगे हैं कि विवाह के बाज़ार में पढ़ी लिखी लड़की की ही पूछ होती है। समाज में अच्छा वर मिल जाना ही लड़की की ओर से माता-पिता का उऋण हो जाना समझा जाता है।

सम्बन्ध करते समय जैसे पहिले वर के शिक्षण तथा स्वास्थ्य के बारे में पूछा जाता था उसी प्रकार अब कन्याओं के विषय में भी पूछा जाने लगा है। बी.ए. या एम.ए. पास वर प्राप्त करने के लिये जिस प्रकार अधिक दहेज़ की चिन्ता करनी पड़ती थी उसी प्रकार अब प्रायः उक्त योग्यता के वर के लिये वधू का शिक्षित और सुसंस्कृत होना आवश्यक माना जाने लगा है। अब तक सम्बन्ध की बात का अंतिम निश्चय वर–वधू के माता–पिता द्वारा ही होता था। अतः धन को विशेष महत्व दिया जाता था; किंतु जब देखा गया कि बिना पढ़े लिखे सभ्य, संस्कृत वर के साथ कन्या का जीवन सुखी नहीं रहता तब वर की शिक्षा-दीक्षा पर भी ध्यान दिया जाने लगा किंतु गौण रूप में ही। कन्या के सम्बन्ध में यह उतना आवश्यक नहीं समझा गया क्योंकि उसे घर से बाहर निकलने वाली कर्मठ नारी नहीं, गृहलक्ष्मी बनना था! उसे कमाना न था, अतः सभ्य-समाज से उसके सम्पर्क की आवश्यकता ही क्या होती? वह तो कविवर पंत के शब्दों में:—

वह नर की छाया नारी
वह चकित भीत हरिनीसी
निज चरण-चाप से शंकित
स्थापित गृह के कोने में वह दीप-शिखा सी कम्पित

थी। यदि वह पुरुष के मनोरञ्जन में समर्थ हुई तो अच्छा, अन्यथा, समाज में कन्याओं की कमी क्या! जबसे पुरुषों में विद्या का प्रचार ज़ोर पकड़ने लगा और वे पर्याप्त संख्या में जीवन के मूलतत्वों को हृदयंगम करने में समर्थ हुए तब से जीवन संगिनी का महत्व भी कुछ बढ़ा और तभी से इस वैधानिक मोल-भाव के समय कन्या की शिक्षा का अतिरिक्त प्रश्न भी सामने आने लगा; यद्यपि दहेज की प्रधानता अक्षुण्ण है। आज भी बहुत से लोग परदा-त्याग आदि सुधारों का विरोध करते हैं किंतु अपनी बला दूसरों के सिर थोपने के लिए कह देते हैं "क्या कहें, हमारी तो कुछ चलती नहीं। पिता जी पसंद नहीं करते। वे ही घर में बड़े हैं। दो चार वर्ष के ही हैं, उनका दिल क्यों दुखाया जाय"! जिनमें थोड़ा सा भी संघर्ष करने की हिम्मत नहीं है वे बड़े-बूढ़ों का नाम ढाल के रूप में इस तरह सामने रख देते हैं मानों वे उनके परलोक प्रयाण की राह देखते हों। कभी कभी उनकी यह पितृभक्ति देखकर हँसी भी आ जाती है। समाज के सुव्यवस्थित संचालन के लिये आवश्यक है कि छोटे, बड़ों का सम्मान करें और उनका अनुशासन मानें; किन्तु साथ ही वृद्धों का भी कर्तव्य है कि वे युवकों के मार्ग में रोड़े न अटकायें। प्रायः देखा जाता है कि कुराह पर चलने वाले युवकों के माता-पिता भीतर ही भीतर अपने आँसू पी जाते हैं, उनका साहस सन्तान का नियन्त्रण करने में असफल हो जाता है। किंतु वे ही लोग सुधार के रास्ते पर चलने वाली संतति को अपनी मृत्यु की राह देखने के लिये विवश करते हैं।

अभी ऐसे लोगों की कमी नहीं है जो समझते हैं कि परदा छोड़ने से स्त्रियाँ उच्छृंखल और अशिष्ट हो जायेंगी; किंतु यह धारणा भ्रान्त निकलेगी जब वे बिना परदे वाली अन्य बहिनों को देखेंगे। अपने घर में देखिये। पीहरके मुहल्ले में लड़की घूँघट नहीं करती और ससुराल के मुहल्ले में प्रविष्ट होते ही घूँघट खींच लेती है। क्या वह पीहर में उच्छृंखल और असंयत रहती है? यदि ऐसा है तो फिर वहाँ भी उसे घूँघट में रहना चाहिये। ससुराल के मुहल्ले में पैर रखते ही शारीरिक चेष्टाओं में एक प्रकार

की बनावट और सजावट आ जाती है; उसी प्रकार मानसिक विचारों में भी परिवर्तन हो जाता है। कई लड़कियों को मैंने देखा कि वे पीहर के मुहल्ले में पाँव रखते-रखते घूँघट खोल लेती हैं और सन्तोष की साँस लेती हैं। यह मुहल्ला उन्हें अपना और ससुराल का मुहल्ला पराया सा लगता है। घूँघट के सम्बन्ध में और भी बहुतसी दलीलें दी जाती हैं; किंतु उनका लज्जा से क्या सम्बन्ध, यह समझ में नहीं आता। घूँघट तो हाव-भाव का एक साधन है। नर्त्तकियाँ बड़ी चतुरता के साथ इसका उपयोग करती हैं। झीना कपड़ा मुख की शोभा को अधिक बढ़ा देता है। हमारी बहू-बेटियाँ भी संबंधियों को देखते ही झटके के साथ मुँह पर घूँघट खिसका लेती हैं और छल्ला मार कर आँखें निकाल देखने लगती हैं। घरवालों को यह अस्वाभाविक और बनने की रीति कैसे पसन्द आती है और सहन होती है? दूसरे देशों के लोगों को ही नहीं, बहुत से भारतीयों को भी यह देख कर क्षोभ होगा।

कुछ लोग परदे को तो विशेष महत्व नहीं देते किंतु वे स्त्रियों को इसलिये बाहर निकालना नहीं चाहते कि वे जंगली हैं, मूर्ख हैं और फूहड़ हैं। उनका कहना है कि पहिले शिक्षित और योग्य बनने दीजिये, बाद में बाहर निकालने की बात चलाइये। किंतु वे ही लोग जंगली और मूर्ख पुरुषों के बारे में ऐसा नहीं कहते। उनका बाहर निकलना अनुचित नहीं ठहराते। यह भेद क्यों? परदे वाली स्त्रियों की रुचि पुरुषों की सेवा करने और सजधज कर उनको रिझाने के लिये खिलौना बनने के सिवा दूसरी ओर नहीं जा सकती। वे यदि पढ़ी-लिखी और चतुर भी होंगी तो भी उनकी सारी शक्ति उस संकुचित परिधि में ही नष्ट हो जायगी। समाज, राष्ट्र अथवा साहित्य की ओर आँख उठा कर देखने का भी उन्हें अवकाश न मिलेगा। उनका व्यक्तित्व ही न रह जायेगा और बिना व्यक्तित्व के ऊपर उठना कैसा? गुलाम स्त्रियों से समाज की भलाई अथवा राष्ट्र की आज़ादी में योग देने की माँग करना वैसा ही है जैसा ब्रिटिश सरकार का भारतीयों से युद्ध में सहायता माँगना। स्त्रियों की ओर से भी इसका उत्तर वही होगा जो भारतीय नेताओं ने सरकार को दिया—"हम गुलाम तुम्हारी सहायता क्या करें? पहिले हमें स्वतन्त्र होने दो, समानता का पद दो, कुछ करने योग्य बनने दो, तब देखा जायगा।"

बड़े-बूढ़े लोग परदे को पारिवारिक शिष्टाचार और मान-मर्यादा का अंग समझते हैं। वे सोचते हैं कि बहू के घूँघट खोल देने से उनकी प्रतिष्ठा मिट्टी में मिल

जायगी। यदि महात्मा गाँधी या श्री. मालवीयजी जैसे महापुरुष घर आयें और घर की स्त्रियाँ मुँह ढक कर सत्कार के बदले घर के कोने में बैठ जायँ तो उनका यह कार्य मर्यादा–युक्त समझा जायगा या मर्यादा-नाशक ? बड़े-बूढ़े भी वधुओं के सामने स्वयं को महात्मा से कम नहीं समझते। तब वे घूँघट कढ़वा कर, उनका बोलना बन्द रखकर, अपने सामने तक न आने देने में अपनी प्रतिष्ठा कैसे समझ सकते हैं ?

सुधार का उद्देश उच्छृंखलता और फैशन बढ़ाना नहीं है। सच्ची सुधारक महिलाओं में न उच्छृंखलता दिखाई देगी और न विलासिता। हाँ, फैशन एक सीमा तक अवश्य मिलेगी। किन्तु यह कोई रोग नहीं है। वह समाज में सदा रहती है और रहेगी। शृंगार कुछ स्त्रियों में ही नहीं, पुरुषों में भी दिखाई देता है। और स्वाभाविक भी है। यह बात अवश्य है कि पुरुष शीघ्र परिवर्तन कर लेते हैं और स्त्रियाँ देर से। इसके लिये उनका स्वभाव नहीं, परिस्थिति ही उत्तरदायी है।

स्त्रियाँ चाहें तो वे अपनी दुरवस्था में स्वयं परिवर्तन कर सकती हैं। उन्हें किसी का मुँह ताकने की आवश्यकता नहीं। उन्हें तो स्वयं अपने पैरों पर खड़ा होना होगा। आज उनका प्रत्येक अंग पुरुषों की विलासिता से पनपे हुए नियमों से बनता है। स्त्रियों के सारे धार्मिक नियम भी पुरुषों ने ही अपनी सुविधा के अनुसार बनाए हैं। स्त्रियों ने पति, पुत्र और परिजनों पर निष्कपट प्रेम तथा विश्वास किया। उनके बनाये सिद्धांतों को कल्याण-मूलक समझकर शिरोधार्य किया। यहाँ तक कि वे अपना अस्तित्व ही पुरुषों में विलीन कर बैठीं। यदि दोष है तो उनके संकुचित क्षेत्र का।

सच देखा जाय तो स्त्रियों की सामाजिक दासता का प्रश्न भारत की राजनीतिक दासता से कहीं अधिक जटिल है। भारत अपने जाति-भेद, एकता के अभाव तथा व्यक्तिगत स्वार्थों के कारण परतन्त्र है; किन्तु महिला-समाज अपनी उदारता, सरलता और निस्वार्थता के कारण। कहा जाता है, "स्त्रियाँ भरण-पोषण के लिये ही नहीं आत्म-रक्षा के लिये भी पुरुषों के अधीन रहेंगी ही। मनुस्मृति का यह वाक्य—

पिता रक्षति कौमारे भर्त्ता रक्षति यौवने
पुत्रो रक्षति वार्धक्ये न स्त्री स्वातंत्र्यमर्हति

स्त्रियों की शारीरिक एवं मानसिक स्थिति का अध्ययन करके ही लिखा गया था" किंतु बात ऐसी नहीं है। युग की दासता ने ही स्त्रियों को शारीरिक एवं मानसिक दुर्बलता का यह अभिशाप दिया है। यदि उनके पीछे भयंकर धार्मिक और सामाजिक बन्धन न रहे होते तो

वे आत्म-सम्मान की रक्षा तथा उदर-पूर्ति के लिये परमुखापेक्षी न होतीं। फिर क्या सभी पुरुष स्त्रियों को गहने गढ़ा देते हैं? क्या सभी उन्हें अच्छा खिलाने-पहिनाने की सामर्थ्य रखते हैं? क्या नीची से नीची कही जाने वाली जातियों में भी स्त्रियाँ स्वयं परिश्रम करके पुरुषों से अच्छा नहीं कमा लेतीं? फिर पुरुषों की थाली की बची हुई जूठन खाना स्त्रियों के लिये सौभाग्य की बात क्यों बताई जाती है? घर में एक ही पलँग और एक ही बिस्तर होने पर पुरुष उसका अधिकारी माना जाता है और स्त्री को "मही रम्या शय्या विपुलमुपधानं भुजलता" का पाठ करना पड़ता है। फिर भी उसके मन में संघर्ष नहीं होता; क्योंकि ऐसा करना वह अपना धर्म समझती है। समाज ने उसे यही सिखाया है। वह रोकर भी हँसती है, भूखी रहकर भी डकारें लेती है। यह सब किस लिये? क्या गहने के लोभ से? नहीं, कर्त्तव्यवश। निर्धन-वर्ग में स्त्रियाँ जो कुछ कमाती हैं उसे पुरुष ले लेते हैं और मनमाना खर्च करते हैं किंतु जब वही कमानेवाली स्त्री कहती है कि मेरी साड़ी फटी है, दूसरी ले दीजिये तो उसे डाँट—फटकार सहन करनी पड़ती है। पुरुष भले ही सारे पैसे चरस, गाँजे और शराब में उड़ा दे। स्त्री यह सब सहन करती है। किस लिये? गहने-कपड़ों के लिये या शारीरिक शक्ति की कमी के कारण? नहीं, लाखों स्त्रियाँ सशक्त होने पर भी अपाहिज और लूले-लँगड़े पतियों के चरणों में अपना जीवन सहर्ष बिता देती हैं क्योंकि वे समझती हैं कि—

> वृद्ध, रोगबस, जड़, धनहीना,
> अंध, बधिर, क्रोधी, अतिदीना।
> ऐसेहु पतिकर किय अपमाना,
> नारि पाव यमपुर दुख नाना।

उन्हें तुलसीदासजी जैसे महात्माओं पर श्रद्धा है; किंतु इस श्रद्धा का दुरुपयोग ठीक नहीं। जिस दिन वे समझ जायँगी कि हमारे शील का दुरुपयोग हो रहा है, वह गुण न रहकर दुर्गुण बन गया है, पुण्य नहीं पाप हो गया है, उसके कारण उनका अपमान होता है, उनकी सेवाओं के फल-स्वरूप उन्हें यम-यातना भोगनी पड़ती है और पद-पद पर आत्मापमान सहन करना पड़ता है; तब वे अपना सच्चा स्वरूप पहचानेंगी और तभी नारी-शक्ति उद्‌बोधित हो उठेगी। तब वे काल्पनिक स्वर्ग के चक्र में न पड़ कर पहिले वर्त्तमान रौरव से पीछा छुड़ाने को आकुल हो उठेंगी। उस आकुलता में कहीं अनर्थकारी तत्व न आ मिलें, इसलिये समय रहते पुरुष-जाति को सावधान हो जाना उचित है। कविवर श्री.

पन्त के शब्दों में मैं अनुरोध करती हूँ:—

मुक्त करो नारी को मानव
मुक्त करो नारी को
युग-युग की अक्षय कारा से जननि, सखी, प्यारी को।

स्त्रियों पर दोषारोपण

नारी समाज आज जिस स्थिति में है वह पहिले से भी बुरी है। जब तक किसी व्यक्ति को अपनी हीनावस्था का अनुभव नहीं होता तब तक वह उससे उत्पन्न होने वाले क्लेश से भी मुक्त रहता है किन्तु जब उसे अपनी स्थिति का कुछ-कुछ आभास मिलने लगता है तो उसके हृदय में एक टीस भी उत्पन्न होती है और वह टीस और भी बढ़ जाती है जब उसके मार्ग में उन्नति की साधना करते समय कुछ ऐसे रोड़े आकर उपस्थित हो जाते हैं जिन्हें वह मार्ग का शूल समझता है। भारत में नारी-जागरण को लेकर जो प्रयत्न किये गये उनमें पत्रों और प्लेटफार्मों के द्वारा पुरुषों का बहुत कुछ सहयोग प्राप्त हुआ, किन्तु व्यावहारिक रूप में उस सहयोग का समर्थन बहुत कम हो सका। कुछ वर्ष हुए तब मैंने परदा-प्रथा के सम्बन्ध में कुछ कहने का साहस किया था। उस समय कुछ समाज-सुधारक माने जाने वाले सज्जनों ने मेरा विरोध करते समय यह तर्क दिया था कि उन्होंने दर्जनों पुरुषों से बात की किन्तु सभी परदा-त्याग को बुरा समझने वाले मिले। इसका अर्थ प्रकारान्तर से यह हुआ कि समाज के नियमों की भलाई-बुराई का निर्णय पूर्णतया पुरुषों की इच्छा पर निर्भर है। यदि वे पुरुषों के स्थान पर स्त्रियों की सम्मति लेते तो उन्हें इससे विरुद्ध मत प्राप्त होता। स्त्रियाँ परदे की पक्षपातिनी हों, यह सम्भव नहीं। यदि उन्हें परदा प्रिय होता तो वे स्वयं को उससे रातदिन आवृत रखना चाहतीं; किन्तु बात उलटी है। पुरुष के घर में प्रवेश करते ही वे घूँघट काढ़कर भींगी बिल्ली की तरह दुम दबाकर बैठ जाती हैं और उसके बाहर जाते ही संतोष की साँस लेकर घूँघट खोलकर पूर्ववत् चहकने लगती हैं। बन्धन-वश भी वे स्वजनों को, और अधिक हुआ तो परिचित वयोवृद्धों को छोड़कर और किसी से घूँघट नहीं काढ़तीं। अन्य प्रान्तों के पुरुषों, नौकर-चाकरों, फेरीवालों और चूड़ीवालों आदि से तो घूँघट किया ही नहीं जाता। इससे प्रगट

है कि वे स्वतः घूँघट पसंद नहीं करतीं। वह तो उन्हें विवशता से करना पड़ता है। निरवगुंठनता प्रकृति की पुकार है और स्वाभाविकता का सन्देश भी। हो सकता है कि स्त्रियाँ घर में संकोच, सामाजिक भय अथवा वयोवृद्धों के दबाव से परदात्याग में आनाकानी दिखायें किन्तु उस संकोच के भीतर उनकी स्वीकृति छिपी रहेगी। मानव स्वभाव प्रकाश को पसंद करता है, चमगादड़ की भाँति तमसावृत रात्रि को नहीं। वह इतना प्रकाश चाहता है कि संसार की सूक्ष्मातिसूक्ष्म वस्तु से भी अनभिज्ञ न रह सके फिर भला ऐसी कौन स्त्री होगी जो जान बूझकर मूर्ख रहना पसंद करेगी। मेरे जन्म से भी पहले समाज में महिला-उत्थान का कार्य प्रारम्भ हो गया था। उस समय हमारे समाज में स्त्रियाँ एक प्रतिशत भी पढ़ी लिखी थीं, इसमें संदेह है। पचास वर्ष पहिले कुछ अंग्रेज महिलाओं ने भारत में स्त्रीशिक्षा की आवाज उठाई थी किन्तु खेद है कि आज भी अन्य प्रान्तों के स्त्रीशिक्षण के सामने राजस्थानी महिलाओं का शिक्षण नगण्य-सा है।

मुझे अपने उस छुटपन की याद आती है जब शहर में बालिकाओं के लिये एक भी पाठशाला न थी। शायद उस समय तक पुरुषों ने इसकी आवश्यकता न समझी होगी। मेरी दादीजी जो स्वयं लिखी-पढ़ी न थीं किन्तु स्त्रीशिक्षा की समर्थक थीं। वे साधारण धार्मिक पुस्तकों का पढ़ना स्त्रियों के लिये आवश्यक समझती थीं। उन्होंने अपनी सब पुत्रियों को पढ़ाया। मुझे भी छै-सात वर्ष की अवस्था में ही एक श्रीमतीजी के पास पढ़ने भेजा जाता था। बीच-बीच में कभी कभी मैं सुन लेती थी कि पढ़ने लिखने से स्त्रियाँ विधवा हो जाती हैं। इन बातों से मेरे मन में बड़ी अशांति मच जाती थी और दिल बैठने लगता था। मेरी अध्यापिका भी विधवा थी। मैं सोचती कि कहीं वे पढ़ने ही से तो विधवा नहीं हो गयी हैं? हाँ, माताजी तथा बुआओं को देखकर एक संतोष की साँस ले लेती थी। मुझे स्मरण है, एक दिन एक पंडितजी कथा बाँचने मेरे घर आये थे। मैंने डरते डरते आखिर पूछ ही तो लिया कि क्या पढ़ने से स्त्रियाँ विधवा हो जाती हैं पंडितजी? मेरा लड़कपन भरा प्रश्न सुनकर उनकी मुद्रा कुछ गम्भीर हो गई और साथ ही मेरा मुँह भी कुछ उतर गया। वे बोले, 'साधारण पढ़ने लिखने और गीता आदि पुस्तकें बाँचने में तो कोई दोष नहीं है। हाँ, स्त्रियों को शास्त्र पढ़ने की मनाही है।' मालूम होता है कि स्त्रियों के दिल में शास्त्रावज्ञा से विधवा होने का डर उत्पन्न कर दिया जाता था। जब यह अवस्था थी तो किसी अंश में उस समय यदि स्त्रीशिक्षा का विरोध भी चलता रहा हो तो इसमें आश्चर्य ही क्या? किन्तु स्त्रियों के हृदय में सदा विद्या एवं

ज्ञान के प्रति श्रद्धा तथा आदर का भाव रहा है। मंदिरों में जाकर अथवा घर पर बुलाकर वे पंडितों, कथावाचकों तथा अन्य ब्राह्मणों से बड़ी श्रद्धा-भक्ति के साथ कथा, भागवत सुनती हैं और बदले में उन्हें वस्त्र, बरतन, रुपये, गहने और दूसरी मूल्यवान वस्तुएं भेंट चढ़ाती हैं।

आज का पुरुष-समाज स्त्री-शिक्षा का बड़ा हिमायती है और उस पर काफी ज़ोर देता है इसलिये वह धन्यवाद का पात्र है। फिर भी वह निस्वार्थभाव से मातृ-सेवा करता हो, ऐसी बात नहीं है। उसे अब मूर्ख दासियाँ पसन्द नहीं। जिस तरह बीमार पड़ने पर लोग साधारण नौकरानी से सेवा कराने के बजाय शिक्षित नर्स से सेवा कराना अधिक पसन्द करते हैं और इसे वे लाभकारक भी समझते हैं इसी प्रकार अपने मनोरंजन के लिये ही अशिक्षित पत्नियों के स्थान पर शिक्षित पत्नियाँ पसन्द की जाती हैं। मामूली नौकर को दूकान पर न रखकर पढ़े-लिखे होशियार मुनीम को रखना अधिक लाभदायक समझा जाता है। बिना पढ़े-लिखे नौकर के भरोसे यदि दूकान छोड़ दी जाय तो न कोई काम ही ढँग से हो सकेगा और न कमाई ही; प्रत्युत पूरे धन्धे में गड़बड़ होने का डर रहेगा। ठीक यही बात गृह-संचालन के विषय में कही जा सकती है। घरेलू उद्योग-धन्धों के लिये भी एक होशियार नौकर चाहिये; क्योंकि गृह-कार्य तथा सन्तान-पालन में भी तो बहुत चतुराई की आवश्यकता होती है। अब इस कार्य को, जिसे सदियों से अयोग्य स्त्री करती आई है, अधिक योग्य हाथों में सौंपने का प्रयत्न किया जा रहा है। यह कोई स्त्रियों पर उपकार हो रहा हो, मातृ-जाति की बड़ी भारी सेवा हो रही हो, सो बात नहीं है। यह तो मशीन को और डीसेंट बनाने का प्रयत्न और 'एक पंथ दो काज' वाली बात है। एक ओर तो इससे समाज-सेवी कहलाते हैं, स्त्री-सुधारक बनते हैं और दूसरी ओर एक योग्य सेविका भी पा जाते हैं।

मेरा यह आशय नहीं है कि स्त्रियाँ गृह-कार्य अथवा सन्तान-पालन जैसे पवित्र काम न करें। उनके हिस्से जो काम आ जाये उसे चतुराई से, ईमानदारी से, ईश्वर के प्रीत्यर्थ करना चाहिये; किन्तु क्या सेवा, गृह-कार्य और सन्तान-पालन स्त्री ही कर सकती है? मैंने कितने ही पुरुषों को देखा है जो इन कार्यों को स्त्रियों से भी अधिक योग्यतापूर्वक कर सकते हैं और कितनी ही स्त्रियों को देखा है जो जजमेंट, राजकीय परामर्श, वकालत, बैरिस्टरी, डाक्टरी, खेती, मैनेजरी तथा मशीनरी आदि का काम करने में पुरुषों से कम नहीं। अपनी रुचि के अनुसार स्त्री और पुरुष सभी तरह के कामों पर अधिकार रख सकते हैं।

उचित तो यह है कि सब को अपनी-अपनी रुचि के अनुसार काम दिया जाय और कार्यकर्ता को उसके विषय का शिक्षण विशेष रूप से दिया जाय। इस प्रकार कार्यों में विशेषता आ जायगी और सच्ची कला के दर्शन हो सकेंगे। आज समाज का अस्तित्व बना रखने के लिये पुरुषों के समान ही स्त्रियों के लिये भी शारीरिक और बौद्धिक विकास की आवश्यकता है।

प्राय: लोग कहते हैं कि पुराने विचारों की स्त्रियाँ अज्ञान के कारण बहुओं से परदा करवाती हैं, सड़कों पर झुण्ड बनाकर गीत गाती हैं। सास-बहू में और देवरानी-जिठानी में झगड़ा होता है। क्या कोई पुरुष यह सब करने को कहता है। अज्ञान तथा अशिक्षा के कारण ही स्त्रियाँ यह सब करती हैं। किन्तु इस प्रश्न को समझाने के लिये मानस शास्त्र के अध्ययन की भी आवश्यकता है। जब परदा शुरू हुआ तब सासुओं के जरिये नई स्त्रियों में शुरू नहीं हुआ होगा। उसके मूल-विधाता पुरुष ही रहे और वह भी इसलिये कि कोई पुरुष उसकी प्रिया को देख न सके। जब परदे ने शिष्टता और परिपाटी का रूप ले लिया तब सासुएँ भी बहुओं से सम्मान के रूप में परदा कराने लगीं। सड़कों पर गीत गाने की प्रथा मुगलों के आक्रमण काल से ही चली है। उस समय स्त्रियाँ और पुरुष वीरों का उत्साह बढ़ाने के लिये गीत गाते थे। आज उन्हीं का रूप राष्ट्रीय गीतों, प्रभातफेरियों और जुलूसों के गीतों में देखा जा सकता है। किन्तु वीरभावना के नष्ट हो जाने पर पीछे शृंगार का बोलबाला हो गया और स्त्रियाँ शृंगारिक गीतों के लिये उत्साहित की जाने लगीं। पुरानी स्त्रियों से मालूम हुआ है कि युवावस्था में गीतों के अर्थ न समझने पर पुरुष बड़े चाव और प्रेम से उनका अर्थ पूछा करते थे।

पुरुषों से उत्साह पाकर और मनोरंजन का कोई दूसरा साधन न होने से स्त्रियाँ समय समय पर शृंगारिक गीत गाती हैं। अपनी ही प्रसन्नता के लिये गाती हों, सो बात नहीं। अब तक भी वे यह समझे बैठी हैं कि पुरुष उनके गीत सुनकर प्रसन्न होते हैं और पुरुषों की प्रसन्नता को वे मोक्ष से कम नहीं समझतीं। तभी न वे बाज़ार में आने पर गाना प्रारम्भ करती हैं और गलियों या निर्जन स्थानों में बन्द कर देती हैं। रहा लड़ाई झगड़ों का कारण, सो है स्त्रियों के क्षेत्र का संकुचित होना जिसके कारण हैं पुरुष। अपनी कार्य-सीमा के भीतर उन्हें पति और पुत्र ही दिखाई देते हैं। उसमें भी पति का स्थान मुख्य है। जिस प्रकार भारतीयों के लिये चाहे वे हिंदू हों या मुसलमान भारत ही सर्वस्व है और उस पर दूसरे की अपेक्षा अपना अधिक अधिकार हो, इसलिये वे परस्पर

लड़ते रहते हैं, नहीं, लड़ाये जाते हैं ताकि तीसरी शक्ति का राज्य बना रहे। उसी प्रकार स्त्रियों में भी अधिकतर विरोध इस कारण होता है कि माँ चाहती है कि बेटा मेरी अधिक सुने और स्त्री चाहती है कि मेरी। इस बात को वे खुले शब्दों में नहीं कहतीं बल्कि किसी न किसी बहाने से प्रकट करती रहती हैं। यदि उनकी दृष्टि इसके भी आगे जाती, उनका क्षेत्र विशाल होता; चूल्हा, चक्की और सन्तान-पालन—जिसे मैं सन्तान-पालन न कहकर बेगार टालना कहूँगी—और पति की गुड़िया बनने से आगे भी उन्हें कुछ करने को और सोचने को क्षेत्र मिलता तो वे बच्चों के समान छोटी-छोटी बातों पर कदापि न लड़तीं। एक बच्चा जिस प्रकार दूसरे बच्चे की शिकायत माँ के पास करता है और उसे दण्ड दिलाने की भी इच्छा प्रकट करता है और दण्डित देखकर प्रसन्न होता है किंतु सचमुच यदि माँ दूसरे बच्चे को मारने लगे और उसे पहले बच्चे के साथ खेलने से मना कर दे तो पहला बच्चा उदास होकर पछताने और क्षमायाचना करने लगता है। इन बच्चों के समान ही स्त्रियाँ भी छोटी-छोटी बातों पर लड़ लेती हैं। कभी-कभी पुरुषों तक शिकायत भी ले जाती हैं। जिस प्रकार बच्चे बड़े होकर विशाल क्षेत्र में आने पर छोटी-छोटी बातों के लिये नहीं लड़ते उसी प्रकार स्त्रियाँ भी यदि घर की चहारदीवारी के भीतर बन्द न रहकर बाहर देखने लगें और इससे भी आगे बढ़कर विशाल गगन की चहारदीवारी से आच्छादित विश्व को देख सकें तो आज के सास-बहू के और देवरानी-जिठानी के झगड़े अतीत की बात बन जायँ। आज तो युग ही लड़ाई झगड़े का है।

अब रहा वेषभूषा का सवाल! यह प्रश्न तब तक हल नहीं हो सकता जब तक स्त्रियों को आर्थिक अधिकार न मिलें। मैंने कितनी ही साधारण स्थिति की स्त्रियों से इस विषय में बात की। जवाब मिला—ये भारी-भारी कड़े, करधनी, टड्डे आदि हम न पहनें तो रखें कहाँ। घर में रखती हैं तो बेटे बहू निकाल लेते हैं। कहते हैं, क्या करना है तुम पहिनती तो हो ही नहीं, हम कुछ रोजगार धन्धा करेंगे आदि। कुछ थोड़ा बहुत पैसा उनके पास भी रहे, इसी इच्छा से ज़बरन उन्हें गहनों का भार सहन करना पड़ा है। इसका कारण है आर्थिक असहायावस्था। यदि स्त्री को विश्वास हो कि उसे ऐसा समय नहीं देखना पड़ेगा जबकि वह रोटी कपड़ों की मुँहताज बन जाय तो अधिकांश स्त्रियाँ खुशी-खुशी भारी गहनों को तिलाञ्जलि दे देंगी।

शास्त्रों में स्त्रियों को नरकद्वार कहा गया है। सारे धर्मशास्त्र पुरुषों द्वारा लिखे गये। इसीलिये तो उनमें पक्षपात है। स्त्रियों ने लिखे होते तो वे कभी न लिखतीं कि

स्त्री नरक का द्वार है। नारी मोक्ष-मार्ग में बाधक है इत्यादि। पुरुष स्त्री के मोक्ष में बाधक नहीं है उलटे साधक है। नरक का द्वार न होकर स्वर्ग का द्वार है किंतु स्त्री उसकी अधोगति का कारण है ? खूब न्याय रहा। जिस प्रकार स्त्री पुरुष के प्रति प्रेम, श्रद्धा और भक्ति रखती है उसी प्रकार पुरुष भी यदि स्त्री के प्रति श्रद्धा रखता तो किसी हालत में पुरुष का पतन नहीं होता। दूसरे को पतित बनाने वाला और वह भी व्यक्ति को नहीं, पूरी जाति को— स्वयं भी निर्दोष नहीं हो सकता। इसमें पुरुषों की कमजोरी असहनशीलता और उच्छृंखलता छिपी हुई है। स्त्रियों को नरक का द्वार, मोक्ष का बाधक आदि इसीलिये तो लिखा गया है कि पुरुषों को स्त्री के प्रति घृणा हो जाये उसका मन स्त्री को देखकर चंचल न हो उठे। अपनी स्वार्थ-सिद्धि चाहे मोक्ष के समान सात्विक ही क्यों न हो उसके लिये दूसरों को दोषी ठहराना कहाँ का न्याय है ? यदि पुरुष के लिये भी धर्म-ग्रन्थों में एक पत्नीव्रत का कड़ा नियम होता; उसके अपमान में नर्क का डर होता तो कोई कारण नहीं था जो स्त्री को देखकर पुरुष संयमी न रह सकता। अपनी ही स्त्री से प्रेम श्रद्धा और भक्ति करता तो कैसे स्त्री नरक-द्वार और मोक्ष में बाधक हो सकती ? पुरुषों को देखकर जब स्त्री संयम से रह सकी तब स्त्री बुरी तरह निन्दा की पात्र बन गयी। स्त्री का दर्जा पुरुष के समान मानने वाले जानते हैं कि धर्म-ग्रंथों में पुरुषों के प्रति पक्षपात हुआ है। पुरुष पर विश्वास करके या असुविधा के कारण स्त्रियों ने धर्म-ग्रंथ नीति-ग्रंथ, नहीं लिखे हैं तो इसका मतलब यह नहीं कि वे कभी लिखेंगी ही नहीं।

कुछ वर्ष हुये महात्मा गाँधी ने साहित्य सम्मेलन की परीक्षाओं के पाठ्यक्रम से 'शिवाबावनी' निकालने पर इसलिये ज़ोर दिया है कि उससे मुसलमानों का जी दुखता है, किंतु धर्म-ग्रंथों से ऐसे भाग न जाने कब निकलेंगे जिनसे स्त्रियों का जी दुखता है।

आज 'डायवोर्स' की आवाज़ बुलन्द है। स्त्री-पुरुषों के हृदय में कितनी अशांति है ? धर्म-ग्रंथ और नीति-ग्रंथ इसीलिये तो बनाये जाते हैं कि समाज व्यवस्थित रूप से चले और उससे सुख-शांति रहे किंतु ऐसा नहीं हो रहा है। धर्म और नीति ग्रन्थों पर डींग मारना व्यर्थ है। स्त्रियों को स्वभाव ही से निर्बल कहा जाता है। स्त्रियों की निर्बलता का कारण परिस्थिति है न कि प्रकृति। यदि कोई मनुष्य हज़ारों वर्ष तक नहीं कुछ सदियों तक ही जंगली पशुओं के साथ रहे तो उसकी शारीरिक दशा भी उन्हीं पशुओं जैसी होने लगेगी। तब स्त्रियाँ यदि हज़ारों वर्षों से घर के अन्दर बन्द रहती आयें और उनका शरीर निर्बल बन जाये तो उसमें ईश्वर का क्या दोष ? यदि पुरुष भी इसी तरह घर में रहकर सन्तान-

पालन, घर-धन्धा और स्वामियों के जी बहलाने का खिलौना बनकर रहने लगे तो वह भी हमारे ही समान निर्बल और नाजुक हो जायगा। यह कहना समस्त नारी जाति का अपमान करना होगा कि स्त्रियाँ रुपया कमाने वाले पति से हृदय से प्रेम नहीं करतीं। हजारों स्त्रियों का जौहर भी क्या स्वार्थिक प्रेम था ? स्त्रियों के इतने स्वार्थ-त्याग और बलिदानों के बाद भी यदि वे स्वार्थी समझी जायँ तो यह उनके गुलाम होने का दण्ड है। गुलामों की इज्जत संसार में कहीं नहीं होती। पुरुष स्वयं अपनी अठारह वर्ष की विधवा लड़की के सामने अपनी पचास साठ साल की आयु में एक अबोध लड़की से उसकी सारी मधुर भावनाओं को कुचलकर विवाह कर लेता है। इसमें भी स्त्री का ही स्वार्थ होगा ? पुरुष पाँच-पाँच, सात सात विवाह कर लेता है यहाँ तक कि पत्नी के जीते जी विवाह कर लेता है। इसमें भी स्त्री का ही स्वार्थ होगा ? स्त्री का जीवन बिगाड़ कर भी पुरुष उदार और समाज में बैठने योग्य बना रहता है। किंतु स्त्री को गहने मिलने की बात तो दूर रही उसे पति का प्रेम न मिलने पर भी वह पति की लाज रखने के लिये उसकी खुशामद करती रहती है और उसे रास्ते पर लाने के लिये कितनी ही स्त्रियाँ अपने आपको मिटा देती हैं। गहने के लिये ही वे पुरुष की सेवा और प्रेम करती हैं यह बात स्त्री को ही नहीं प्रेम को भी जो ईश्वर-स्वरूप है, कलंकित करती है।

दोषी कौन ?

नारी-समस्या भारत की वर्तमान सामाजिक समस्याओं में प्रमुख स्थान रखती है। माना जाने लगा है कि नारी के उत्थान के बिना समाज, सभ्यता और राष्ट्र का उत्कर्ष असम्भव है। ऐसी हालत में नारी-आन्दोलन का ज़ोर पकड़ना स्वाभाविक है।

आज भी कुछ लोग कहते हैं कि हम स्त्री-शिक्षा के विरोधी नहीं हैं। हाँ ऐसी शिक्षा के विरोधी अवश्य हैं जो लड़कियों की शालीनता नष्ट करके उन्हें उच्छृंखल और विलास-प्रिय बना दे। बालकों की शिक्षा के सम्बन्ध में यह बात नहीं कही जाती। शिक्षा का फल शीलनाश, उच्छृंखलता और विलास की वृद्धि कैसे हुआ, समझ में नहीं आता। क्या इन बातों को भी शिक्षा कहा जा सकता है ? यह तो वही बहाना है जिसके सहारे अंग्रेजों ने हम भारतीयों को निरस्त्र बना रखा है; जिससे हमारा पौरुष-भाव धीरे धीरे नष्ट हो जाय और उनके साम्राज्य पर आँच न आवे। किन्तु राजनीतिक शब्दों में कहने के लिये यह है कि यदि सर्वसाधारण के पास शस्त्र रहेंगे तो लोग उच्छृंखल हो जावेंगे और परस्पर लड़ेंगे, मरेंगे। शरीर में बल हो और हाथों में शस्त्र हो तो किसी अंश में उच्छृंखलता आ सकती है किन्तु विद्या से तो उच्छृंखलता नष्ट होती है, सभ्यता और विनय आती है। जो चीज दूसरे के लिये अनर्थकारी समझी जाती है वह अपने लिये भी तो वैसी ही होगी, इसे न भूलना चाहिये। अंग्रेजों ने भारतीयों के शस्त्र छीन लिये किन्तु अपने न छोड़े। भारतीयों को दास बनाकर वे उन पर शासन कर सके किन्तु परिणाम-स्वरूप उन्हीं में आज यादवी मची हुई है। और जब तक वे भारत को मानवीय अधिकारों से वंचित रखेंगे तब तक संसार का यह रक्तपात मिट नहीं सकता। इसी प्रकार नारी के ज़रा अक्षर-ज्ञान की बात सुनते ही और कुछ स्त्रियों को पढ़ती-लिखती देखते ही कतिपय कट्टरपंथी लोग बौखला उठते हैं। क्या अँग्रेजों के समान उन्हें भी अपनी मनमानी न होने का और

एकछत्र राज्य न रहने का डर है ? वास्तविक अर्थ में जो सुधारक सज्जन समाज के सामने आये हैं उनके घरों में उच्छृँखलता, शील की कमी तथा विलासिता आज उतनी नहीं है जितनी उनके पहले के कुरीति-पूर्ण जीवन में थी। उसकी जगह उनमें सभ्यता, सादगी, उदारता, त्याग, विनयशीलता आदि का आधिक्य है। शील नष्ट करनेवाली, विलासी और उच्छृँखल बनाने वाली शिक्षा न स्त्रियों को ही लेना चाहिये और न पुरुषों को ही। किन्तु शिक्षा पाकर यदि कोई बालक उच्छृँखल निकले तो इसके लिये शिक्षा को क्यों दोषी ठहराया जाय ?

आज भी कुछ लोग समझते हैं कि नारी ताड़न की अधिकारी है। वह ताड़न से ही ठीक रहती है, जिस प्रकार गुलाम। ये लोग नारी-आन्दोलन से बड़े शंकित हो रहे हैं और कभी कभी झल्ला भी पड़ते हैं। सोचना चाहिये कि जब किसी बात की अति हो जाती है तब उसमें क्रांति अवश्य होती है। समाज में देखा गया है कि जब तक ज्ञान, कर्म और उपासना में समन्वय रहता है तब तक सुख शान्ति और आनन्द रहता है किन्तु जब इनमें से एक ज़ोर पकड़ता है; जैसे कर्म को दबाकर ज्ञान सर्वश्रेष्ठ समझा जाने लगता है; हाट, बाज़ार, चौराहे पर जहाँ देखो वहीं लोग साधिकार और अनधिकार ज्ञान, माया जीव, ब्रह्म, द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि दार्शनिक सिद्धान्तों की चर्चा करना ही अपना परम कर्तव्य समझने लगते हैं और कर्म को पीछे डाल देते हैं; तब समाज-व्यवस्था में गड़बड़ी पैदा हो जाती है। परिस्थिति स्वयँ किसी महात्मा, नेता या मार्ग-प्रदर्शक को पैदा कर लेती है और वह ज्ञान की अपेक्षा कर्म को श्रेष्ठ बताकर जनता की रुचि उधर फिराता है। वास्तव में स्त्री और पुरुष के अधिकारों के समान ही ज्ञान और कर्म में भी समानता चाहिये; किन्तु जिस चीज़ की कमी होती है उसे सामने लाने के लिये उसकी विशेषता बतलानी होती है। जैसे श्रीकृष्ण ने अर्जुन को ज्ञान की महत्ता पर आघात न करते हुए भी कर्म की ही प्रधानता बतलाई। इसी प्रकार उपासना को समझिये। सूरदास के उद्धव ने ज्ञान बघारने में कमी नहीं की किन्तु गोपियों के आगे उनकी एक न चली। वह समय ही ऐसा था। जब लोगों के निराश व हतोत्साह होने का डर होता है तब ज्ञान और कर्म उतने सफल नहीं होते जितनी भक्ति व उपासना। इसी तरह सामाजिक व्यवस्था और देश की उन्नति के लिये आज स्त्री के अधिकारों को ऊँचे स्वर के साथ घोषित करना ज़रूरी है। उन्नतिशील स्वतन्त्र देशों में तो स्त्रियों का सम्मान पुरुषों से भी अधिक है किन्तु हम तो अधिक के लिये नहीं कहतीं। हम तो केवल अपनी लज्जाजनक हालत को हटाना चाहती

हैं क्योंकि हमारी अवनति के साथ देश और समाज की अवनति भी जुड़ी हुई है।

एक दिन मैं अपने एक सम्बन्धी के लेने स्टेशन गई थी। तीसरे दर्जे के प्लेटफार्म पर कुछ बेंच पड़ी हुई थीं। मैंने देखा बेंच पर एक मारवाड़ी सज्जन बैठे हुए थे। थोड़ी दूर फर्श पर उनकी सहधर्मिणी कहलानेवाली स्त्री हाथों में बड़े-बड़े सोने के बंद और पैरों में मूसलाकार कड़ी पहने बैठी थीं। मैं भी पास की एक बेंच पर बैठ गई और उनसे भी बेंच पर बैठने के लिये आग्रह करने लगी। तब उनके पति ने मुझ से कहा कि वह नहीं बैठेंगी। हम लोगों में रिवाज़ ही ऐसा है। मैंने उस स्त्री के समझाने की कोशिश की कि आप सार्वजनिक स्थानों में तो जूतियों के पास न बैठा कीजिये। इससे आप की ही इज्ज़त कम नहीं होती आप के संरक्षक पुरुषों की और समाज की भी इज्ज़त हलकी होती है। मैं यह कह ही रही थी कि उनके पति महाशय उठकर कुछ दूर वृक्ष के नीचे चले गये। शायद मुझे मारवाड़ी जानकर उन्हें वहाँ बैठना भार हो गया। मैंने महिला से कहा कि अब तो आप बैठ जाइये किन्तु वह पुरुषों के सामने भला इतनी ढिठाई कैसे करती! दो मिनिट बाद एक लड़का आया और उक्त महिला के उसी वृक्ष के नीचे बुला ले गया। मेरी इच्छा थी कि उन महाशय के समझाकर उनसे स्त्री के ठीक स्थान पर बैठने के लिये आग्रह कराऊँ किन्तु उन महाशय के तो मेरी छाया मात्र से भय था। लोग कहेंगे इसमें उस स्त्री का ही दोष है किन्तु सोचना चाहिये कि सदियों की गुलाम जातियों में इतनी हिम्मत कहाँ? स्त्रियाँ अपना स्थान लेंगी तो अवश्य किन्तु पुरुषों की सहायता बिना देरी से और कठिनाई से। बहुत से सुधारक लोग घर में आतंक रखने पर भी सार्वजनिक स्थान में स्त्रियों की इज्ज़त करना लज्जाजनक नहीं समझते।

स्त्री और पुरुष समाज के दायें और बाएँ अंग हैं। एक दूसरे का सहायक है। एक के बिना दूसरा अपूर्ण रहता है। एक अंग के अशक्त होने पर क्या दूसरा अंग उन्नति कर सकता है? इसीलिये मैं बार-बार कहा करती हूँ कि पुरुष स्त्रियों के पाँव की जूती तथा अपनी बची खुची-रोटी और कपड़ों पर पलने वाली गुलाम न समझें। कुछ लोग कहते हैं कि स्त्रियाँ अपने आप पैरों की जूती बनी हुई हैं और स्वर्ग के लोभ से वे पुरुष की जूठी थाली में खाती हैं उनके नाम पर व्रत, उपवास करती हैं किन्तु यह भावना उनमें भरी किसने? पुरुष ही ने तो! स्त्री की हालत आज समाज में गिरी हुई है इसलिये उसे महान् बतलाकर—उसका पक्ष लेकर—जिस तरह से हो उस तरह से उसे उठाने की ज़रूरत है। जो पहले से मरी हुई हैं, दबी हुई हैं, सताई हुई हैं और जो समझती हैं कि स्त्री योनि में जन्म

ही महान् पापों का परिणाम है, जो स्वयँ अपने को घृणा की दृष्टि से देखती हैं और अपने को सब दोषों की खान समझती हैं, उन्हीं को बुरा बतलाना क्या मरे हुए पर लात जमाना नहीं है ? आज संसार की सर्वाधिक अवनत प्राणी नारी अपने को इतनी दीन, इतनी पतित क्यों समझती है ? इसका कारण क्या पुरुष नहीं है ? कहा जा सकता है कि इसका कारण पुरुष नहीं, अविद्या है। पढ़ी-लिखी स्त्री अपने को ऐसा नहीं समझती। मैं मानती हूँ कि अपढ़ स्त्रियाँ अपने को ज्ञानी न समझें, मूर्ख समझें किन्तु वे अपने को पतित और पाप का मूल क्यों समझें ? इसका कारण क्या बार-बार पुरुषों द्वारा उन्हें वैसा बतलाया जाना नहीं है ? अपने विषय में मनुष्य हमेशा जैसा सुनता रहता है वैसा ही धीरे-धीरे अपने को समझने लगता है और कुछ अंशों तक वैसा हो भी जाता है। आज स्त्रियों की भी कुछ ऐसी ही मानसिक दशा है। वे निर्दोष होने पर भी कहती हैं, 'पुरुष देवता है, पुरुष में कभी कोई दोष नहीं होता; चाहे वह कैसा ही हो। हम ही बुरी हैं। ईश्वर स्त्री का जन्म कभी न दे।' ऐसी उनकी कुछ धार्मिक भावना सी बन गई है। वे सारा दोष स्वयँ अपने सिर पर लेती हैं। मैं ऐसी पवित्रहृदया नारी को दोषी बतलाऊँ कि समाज और धर्म के ठेकेदार, जवाबदार पुरुषों को। खैर, दोषी कोई भी हो दोष अवश्य है। प्रसन्नता की बात है कि अब समाज की इस दशा को कट्टरपंथी धार्मिक भी सन्तोषजनक नहीं समझते, यही क्या कम है ?

नारी के बन्धन

आजकल प्राय: सभी पत्र-पत्रिकाओं में नारी-जागरण सम्बन्धी लेख किसी न किसी रूप में निकलते रहते हैं। उनमें स्त्रीस्वातन्त्र्य की आवाज़ भी कुछ दबी हुई सी क्षीण स्वर में डरते डरते और कभी उग्रता के साथ प्रतिक्रियात्मक रूप में उठायी जाती है। किन्तु स्त्रियों के लिये स्वतन्त्रता आज भी डरावनी सी दिखाई देती है। कोई कहता है, स्वतन्त्रता पाकर स्त्रियाँ उच्छृंखल हो जायेंगी। कोई कहता है पति-पत्नी में प्रेम न रहेगा और गृहस्थी में अशांति रहेगी। ठीक भी है मालिकों की दृष्टि से। किन्तु सच्चाई से निष्पक्ष भाव से और मित्रता की दृष्टि से विचार करने पर ये विचार हलके ही जँचते हैं।

आवश्यक बन्धन कोई बुरी वस्तु नहीं है। बल्कि यों कहा जाय तो अधिक अच्छा होगा कि इन बन्धनों के बिना कोई समाज जीवित नहीं रह सकता। संसार में आते ही प्राणी को बन्धन घेरने लगते हैं। तारिकाओं, चाँद और सूरज तक को बन्धनों में ही घूमना पड़ता है। पशु, पक्षी, स्त्री, पुरुष और बालक की तो बात ही क्या है! संसार की गूढ़ता से अजान बच्चों को भी हम 'डिसिप्लिन' सिखाते हैं, उन पर हलकासा नियन्त्रण रखते हैं। तब माया और अज्ञान की अँधेरी नगरी में भटकने वाले स्त्री पुरुषों को योग्य मार्ग दिखाना और उसी पर चलने के लिये प्रतिबन्ध लगा देना भी मानव-हित की दृष्टि से अच्छा ही है। किन्तु मानवता के विकास को रोककर उसे कुण्ठित बनाने वाले बन्धन सदोष और अहितकर होते हैं। बन्धन पाप है यदि वह व्यक्तिगत स्वार्थ के लिये, आत्मतुष्टि के लिये किसी पर लगाया जाय। सुन्दरता इसमें है कि लगे हुए बन्धन, बंधन न मालूम पड़ें। वे एक आवश्यकता बन जायँ और पालन करनेवाला उन्हें प्रसन्नता से ग्रहण कर सके।

आज का पुरुष दिन-दिन भर स्त्री-बच्चों का ख्याल न करके अपनी धुन में लगा

रह सकता है, स्त्री इसमें बाधक नहीं होती। साहित्य, संगीत चित्रकारी आदि कलाओं में, सेवा और त्याग आदि परोपकार के कामों में तो वह उसका साथ देती ही है, समय पर खिलाती-पिलाती है, सेवा करती है और पति के सुकर्मी होने पर फूली नहीं समाती किन्तु पति को कुमार्ग की धुन लगने पर भी वह अपना मन मसोसकर ही रह जाती है क्योंकि पुरुष मालिक है और स्त्री दासी। हमारी समाज-व्यवस्था, नीति और धर्म भी इसका अनुमोदन करते हैं। पुरुष न भी कमावे तो स्त्री रूखा-सूखा खाकर गुजारा कर लेती है। किन्तु यदि स्त्री किसी दिशा में स्वतन्त्र रूप से प्रवृत्त होती है तो पुरुष को बहुत नागवार जँचने लगता है क्योंकि मनुष्य को अपनी सुविधा पाये बिना चैन नहीं पड़ती, चाहे दूसरा काम हो या न हो। वक्त पर यदि पुरुष का काम न हुआ तो घर वाले स्त्री की उस कारणभूत प्रवृत्ति को जड़ से उखाड़ फेंकने के लिये कमर कसकर तैयार हो जाते हैं। ऐसी हालत में स्त्री का अपने उद्देश्य पर स्थिर रहना कठिन हो जाता है। उसका उत्साह ढीला पड़ जाता है। मैं यह नहीं चाहती कि स्त्रियों को अपने हिस्से में आये हुए घर के काम छोड़कर बाहिरी काम के पीछे पड़ना चाहिये किन्तु सच्चे कार्यकर्त्ता पर किसी प्रकार के बन्धन, रुकावटें और नियम नहीं लगाये जाने चाहिये और वह इन बातों को सहन भी नहीं कर सकता। आज भारत की स्त्री इसीलिये सार्वजनिक क्षेत्र में पनप नहीं पाती कि ज़रा आगे बढ़ते घर वाले निष्ठुर माली उसकी सत्प्रवृत्तिलता की कोंपल को कुतर फेंकते हैं।

सत्कार्य ही क्यों न हो, जब कोई व्यक्ति उसे औचित्यानौचित्य का विचार किये बिना करने लगता है तब वह धुन या व्यसन का रूप ले लेता है। साहित्य, पढ़ने लिखने और संगीत आदि कलाओं की धुन, सेवा और परोपकार का शौक, जब व्यसन का रूप धारण कर लेते हैं तभी उनके कारण परिवार में संघर्ष उत्पन्न होता है। स्त्री मुश्किल से किसी धुन को पाल सकती है। अंकुर फूटते फूटते ही उसे नष्ट कर दिया जाता है। मीरा के समान जिसके हृदय में गहरा अंकुर जम जाता है उसे तोड़ने की शक्ति तो किसी में भी नहीं रहती किन्तु मीरा तो कभी कभी ही आविर्भूत हो सकती है। उदाहरणार्थ कितनी ही स्त्रियों को देखा गया है कि विवाह होने से पहले उनकी लेखनी में तेज और मोहकता रहती थी, उनसे बड़ी बड़ी आशाएँ की जाती थीं, पर विवाह होते ही पक्षी के समान चहचहाहट दिखाकर वे मध्यान्ह में ही घोंसले में दुबक गईं। आशा है साँझ को निकलने की, किन्तु अभी उस पर विश्वास क्या ?

पराधीनता महान पाप है। इसमें स्वातन्त्र्य सुख के साथ संयम-सुख का भी

अभाव रहता है। प्रश्न उठता है कि गुलामों को तो संयम से ही रहना होता है, फिर उन्हें यह सुख क्यों नहीं मिलता? उत्तर सरल है। किसी काम को करने का अधिकार न होने पर या किसी वस्तु के न मिलने पर या ज़बरदस्ती से काम कराये जाने पर, फटकार या मार के डर से काम करने पर और मजबूरन कुछ छीन लिये जाने पर, यदि कोई कहे कि हमने मन को जीता है, संयम किया है—वह भोग हम नहीं भोगेंगे, उस वस्तु की आवश्यकता होने पर भी हम उसे नहीं लेते, मन पर काबू रख कर इच्छा न होने पर भी हम वह काम करते हैं, त्याग करते हैं, आदि—तो क्या यह संयम और त्याग दम्भ न होगा? छीन लिये जाने पर किसी वस्तु को देना त्याग नहीं कहलाता। अपने लिये आवश्यक और ज़रूरी होने पर भी, दूसरे की आवश्यकता अपने से बड़ी है या अपने ही समान है, यह जानकर अपनी प्रिय वस्तु को, बिना बन्धन, स्वतन्त्रता पूर्वक उसे दे देना, अवश्य त्याग हो सकता है।

गुलाम जब कोई कार्य अपनी इच्छा से कर नहीं सकता तब संयम और त्याग का प्रश्न कैसा? गुलाम स्त्री से पुरुष को सच्ची सेवा और सच्चे प्रेम का आनन्द मिलना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। गुलाम की सेवा और त्याग का मूल्य भी उतना नहीं होता जितना आज़ाद की सेवा और त्याग का होता है। स्वतन्त्र मनुष्य को निस्वार्थ और सच्चा प्रेम करने का सौभाग्य किसी तरह मिल भी जाता है, किन्तु गुलाम के लिये यह कठिन है; क्योंकि उसका दिल बहुत कमज़ोर होता है। गुलाम काम करते हुए भी आलसी ही रहते हैं। उनके सिर पर किसी प्रकार की जवाबदारी या उत्तरदायित्व नहीं रहता। इसी लिये तो वे ताड़न के अधिकारी कहे गये हैं। उनके दिल में उत्साह और प्रेरणा नहीं होती। होती भी है तो वह दबा दी जाती है। दूसरों के इशारों पर नाचने वालों में उमंग और स्वाभिमान कैसा? कुछ लोग स्त्री को घर की रानी, मालकिन और देवी आदि बताकर उसे सुन्दर विशेषणों से सजाया करते हैं; क्योंकि बिना पैसे ही नहीं पैसे लेकर ख़रीदी हुई दासी से अधिकाधिक बलिदान कराने में कुछ कलाबाज़ियां भी कभी-कभी अच्छा काम देती हैं। घर की रानी और घर की दासी में बहुत कम भेद है। एक रोटी-कपड़ों पर आजीवन दासी रहती है; दूसरी कुछ शुल्क पर। घर की इस रानी के साथ घर के महाराजा और कुँवरों का कितना सहयोग रहता है? रानी साहिबा किसी ज़रूरी काम से व्यस्त हैं, मेहमान बैठे हैं, आटे में हाथ सने हैं, और राजा साहब सिगरेट का धुआँ निकालते घर में बैठे हैं। इसी बीच यदि कुँवर साहब ने पाख़ाना कर दिया, तो 'जल्दी आओ' की कड़ी आवाज कसी गई। यदि कुछ देर हुई तो डाँट-फटकार। आज के कुछ सुधारक पति

भले ही ऐसा न करते हों; किन्तु प्रायः पति, समय की कमी से नहीं अपितु इस काम को ओछा समझ कर बच्चे को नहीं छूते और बच्चे की माँ पर दाँताकशी करते हैं। ज़रूरी काम में व्यस्त स्त्री, काम छोड़ कर, बच्चे को साफ़ करती है। पति महाशय मुँह फुलाए टुकुर-टुकुर देखते रहते हैं। क्या यह स्त्री का अपमान और उसके समय की बरबादी नहीं है? स्त्री जब दूसरे जरूरी कामों में व्यस्त है और पति फ़ुरसत में बैठा है, तो उसको चाहिये कि स्त्री को न बुलाकर बच्चे की सफ़ाई कर दे। मुझे मालूम है कि पुरुष इन बातों से घबराएँगे क्योंकि ऐसे पुरुषों के लिये हमारे वैयाकरणों ने स्त्रैण की उपाधि पहले से ही निश्चित कर दी है। वे मुझे गालियाँ भी देंगे कि पतिव्रत धर्म का उपदेश करना तो छोड़ा, उल्टे बच्चों का मल साफ कराने को ही कहने लगी। किन्तु मैं इसमें पाप नहीं समझती। जब स्त्री और पुरुष दोनों फ़ुरसत में हों तब स्त्री करेगी ही; पुरुष को कहना ही नहीं होगा। लेकिन जब वह काम कर रही हो या बीमार हो, तब भी गन्दा काम समझकर पुरुष, स्त्री से ही ये कार्य करवाता है। फिर बच्चे क़ायदे से होते हैं पुरुष के। इस अवस्था में पत्नी तथा मजदूरिन में क्या अन्तर रहा? स्त्री को तो दाई के समान बच्चे की साफ़-सफ़ाई करने का और खिलाने-पिलाने भर का अधिकार रहता है। बच्चा जब बड़ा हो जाता है, तब माँ पर हुक्म चलाता है। माँ ही उसका पाखाना धोती है, उसके लिये बिस्तर कर देती है। है न उल्टी रीति? जहाँ बच्चे को बड़ा होने पर माँ की सेवा करनी चाहिये वहाँ बिना किसी संकोच के लड़का माँ की चिन्ता न कर, माँ के सामने मैले कपड़े फेंककर बालों में तेल-कंघी कर बाबू बन दोस्तों में चला जाता है। क्या यह माता का अपमान नहीं? पुरुष बिना कुछ माँगे पति-पुत्रों की सेवा तन-मन से करते जाने की शिक्षा स्त्री को देना चाहता है। जहाँ स्त्री इसके आगे बढ़ी कि वह समाज की अशांति का कारण बन जाती है। स्त्री कहीं अपने को बड़ा न समझने लग जाय, इसीलिये पुरुष उसे उच्च शिक्षा दिलाते भी डरता है। उस स्त्री से हम पुरुषों के समान कलाकार बनने की आशा कैसे कर सकते हैं? कलाकार कभी बन्धन पसन्द नहीं करता। और न उसे कभी बन्धनों की परवाह ही रहती है। इस घर की रानी और मालकिन स्त्री पर बन्धन तो अनेक हैं; किन्तु अधिकार एक नहीं। पति, बच्चों और धन-दौलत पर उसका अधिकार रहना तो दूर अधिकतर उसका अपने खाने और पहिनने पर भी अधिकार नहीं रहता; वह भी उसे मालिकों की इच्छा से ही प्राप्त होता है।

मनुष्य मनुष्य को खरीद सकता है। मैं इसे बुरा नहीं भी मानती। परन्तु पैसों या

शक्ति के बल नहीं; प्रेम के बल से। यह भी ध्यान रहे कि प्रेम द्वारा मनुष्य खरीदा नहीं जाता; स्वयँ बिकता है। मैं अपनी बहिनों से प्रार्थना करूँगी कि वे पुरुषों से सच्चा प्रेम करें, अपने कर्तव्य का पालन करें, किन्तु अनुचित बन्धन को कभी स्वीकार न करें। आत्माभिमान की बलि न करें। अनुचित बन्धन, दासता, और स्वात्माभिमान के न होने के कारण ही आज आपका व्यक्तित्व नहीं रहा और अनेक अवगुण आ गये। आप बिना इच्छा, पद्धति–नियम के विरुद्ध घूँघट काढ़ती हैं; देखने की इच्छा होने पर भी कानी आँख से देखती हैं;बोलने की अनुमति न होने पर टचकारों और हाथके इशारों से बातें समझाती हैं; भारी-भारी वस्त्राभूषणों से जकड़ी रहती हैं; सड़कों पर लज्जा के विरुद्ध नहाना, खाना, रोना आदि सब कुछ करती हैं, जो स्त्री-जाति को कलंकित करता है। यदि आप में स्वाभिमान और व्यक्तित्व होता तो यह कार्य आप कभी न करतीं। आप के ऊपर समाज के इतने कड़े बन्धन पड़े कि उनने आप में आत्म-विस्मृति पैदा कर दी। आज आप को मानवीय स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिये बहुत शक्ति और ज्ञान की आवश्यकता है। महात्मा गाँधी अपने विधायक कार्यक्रम में लिखते हैं:—"स्त्री ऐसे कानून और रस्म-रिवाज़ों से दबा दी गई जिनके लिये पुरुष ज़िम्मेवार हैं और जिनके गढ़ने में स्त्री का कोई हाथ नहीं रहा। अहिंसा की नींव पर जमी हुई समाज व्यवस्था में स्त्री को अपने भाग्य का विधान करने का उतना ही अधिकार है जितना पुरुष को। स्त्री को अपने मित्र और सहयोगी समझने के बजाय पुरुषों ने अपने को उनका स्वामी और शासक माना है। कांग्रेसजनों का यह विशेष कर्तव्य है कि वे भारत की स्त्री जाति को ऊपर उठाने में मदद करें। स्त्रियों की स्थिति कुछ-कुछ पुराने ज़माने के गुलामों जैसी है, जिन्हें यह होश भी नहीं होता था कि वे कभी आज़ाद हो सकते हैं या उन्हें आज़ाद होना चाहिये। स्त्रियों को यह सिखाया गया है कि वे अपने आप को पुरुषों की दासियँा समझें। कांग्रेसजनों का यह फर्ज़ है कि वे स्त्रियों को उनका पूरा रुतबा प्राप्त कराके पुरुषों की बराबरी से काम करने की शक्ति सम्पादन करा दें। हमारी पत्नियँा गुड़िया या भोग्य विषय नहीं होनी चाहिये।"

आज हमें स्वाधीनता के लिये पुरुषों के "मुक्त करो नारी को मानव मुक्त करो नारी को। युग युग की बंदी कारा से जननि सखी प्यारी को" ये सिफ़ारशी वाक्य नहीं चाहिये। हमें स्वयं अपने चरित्र और दृढ़ इच्छा-शक्ति द्वारा ही दास्य-पाश को छिन्न-भिन्न कर समानता से साझीदार बनने का प्रयास करना है।

परिवार में नारी का स्थान

हिन्दू समाज में जबतक स्त्री गर्भवती रहती है तबतक तो घर वाले ईश्वर से पुत्र माँगते रहते हैं और पुत्र होने की आशा में तरह-तरह के मनसूबे बाँधते हैं, मनौतियाँ मानते हैं और देवताओं के बल पर धैर्य धारण किये रहते हैं; लेकिन जब लड़के की जगह लड़की पैदा होती है तो घर भर में ऐसी उदासी छा जाती है जैसे कोई महान अप्रिय घटना घट गई हो। परिवार में पूरा शोक छा जाता है। पड़ोसी परिवारों की स्त्रियाँ शोक मनाने और रोने आती हैं और उनके सामने घर की बड़ी बूढ़ी स्त्रियाँ भी दुःख के आँसू बहाती हैं। लड़का होने की आशा से ब्राह्मणों और भिक्षुओं को दान, नौकर-चाकरों को इनाम और रिश्ते वालों को पुरस्कार आदि देने के लिये जो सामग्री जुटाई जाती है वह सब सन्दूकों में बन्द कर दी जाती है। क्योंकि लड़की के विवाह की चिन्ता जो लग जाती है! आखिर कुछ विवाह के लिये भी तो चाहिये।

लड़का होता है तो जच्चा का अधिक आदर होता है। उसकी सेवा-शुश्रूषा की ओर कुछ अधिक ध्यान दिया जाता है। उसके खाने पीने की भी चिन्ता रखी जाती है। लेकिन लड़की पैदा करनेवाली माँ का भगवान ही मालिक है। कहीं-कहीं तो लड़की का नाम सुनकर परिवार का तिरस्कार पाने के भय से जच्चा को मूर्छा तक आ जाती है।

लड़की का पालन-पोषण भी बड़ी बेदर्दी और लापरवाही से होता है। कहीं-कहीं तो उसे अपने भाइयों की जूठन तक खाकर बड़ा होना पड़ता है। लड़कों के लिये दूध की व्यवस्था की जाती है लेकिन लड़कियों के लिये यह खर्च व्यर्थ और अनावश्यक समझा जाता है। यदि किसी घर में एक ही लड़की हुई तो किसी तरह घर वाले अपना दिल समझा लेते हैं और उस पर तनिक कृपापूर्ण नज़र रखते हैं किन्तु यदि पाँच-सात लड़कियाँ होंगी तो उन बेचारियों की दुर्दशा वर्णनातीत ही समझिये।

हमारे यहाँ लड़कियों की पढ़ाई लिखाई भी प्रायः व्यर्थ समझी जाती है। लड़की दूसरे घर का धन है। उस पर नाहक खर्च कौन करे? लड़की का काम रहता है माता के गृह कार्य में सहायता देना, छोटे भाइयों को खिलाना, उनके कपड़े धोना और समय-समय पर उनके तमाचे खाना आदि।

पिता की सम्पत्ति में लड़की का कुछ भी अधिकार नहीं रहता। विवाह के समय पिता जो कुछ खर्च करता है वह लड़की के किसी काम का नहीं। बड़े–बड़े भोज तो घर वाले अपनी बड़ाई के लिये करते हैं क्योंकि वे स्वयं भी लोगों के यहां विवाह-शादियों में भोजन करने आते हैं। बदले में उन्हें भी जिमाना पड़ता है। यह तो व्यवहार ठहरा। जो दान दहेज़ में दिया जाता है उस पर लड़के का ही अधिकार रहता है। कभी लड़की के पिता द्वारा खासा दान-दहेज़ न मिला तो लड़की को हमेशा सास ससुर के तानों का शिकार बनना पड़ता है। अनेकों बधुओं का तो जीवन इन तानों के कारण यहाँ तक कष्टमय हो जाता है कि वे विष खाकर ही शांति पाती हैं। पिता के मरने पर उसकी सम्पत्ति लड़कों में बँट जाती है। विवाह के पश्चात् जब लड़की अपने पिता के घर आती है तो वह पराये घर की समझी जाती है। लड़की को अपने पिता के घर में बिना किसी की आज्ञा कुछ भी लेने का अधिकार नहीं रहता।

आगे जाकर जब लड़की के बच्चा होता है तब भाई भतीजों के सिर आफ़त आ जाती है, क्योंकि लड़की को खिचड़ी और छूछक आदि के रूप में कुछ दिया जाता है। इसी प्रकार जब भानजे का विवाह संस्कार होता है तब भी पीहर वालों पर विपत्ति की बाढ़ आ जाती है। परन्तु यह सब लेना-देना भाई भतीजों की इच्छा पर निर्भर रहता है। लड़की कुछ बोल नहीं सकती। और समाज का कानून भला कब दया कर सकता है? पिता के घर से बच्ची बालिग़ हो चाहे नाबालिग़ दूध की मक्खी की तरह निकाल दी जाती है।

विवाह होकर ससुराल आने पर लड़की सोचती है कि वहाँ कुछ आदर होगा, कुछ अधिकार मिलेगा, घर का अनादर वह पति की गोद में सिर रखकर भूल जायगी लेकिन आते ही बेचारी पर घर के काम का सब बोझा आ जाता है। फिर भी किसी को छाछ तक उठाकर देने का अधिकार नहीं रहता। उस समय उसकी हालत एक नवीन नौकर की सी रहती है। धीरे-धीरे यह नौकर होशियार होने लगता है। जब वह घर की सब बातें समझने लगती है तब उसे छोटे मुनीम और अन्त में यदि वह अच्छी योग्यता

वाली और चतुर निकली तो हेड मुनीम की जगह मिल जाती है। परन्तु उसकी तनख्वाह वही रहती है जो घर वाले अपनी इच्छा से गहनों आदि के रूप में उसे दे देते हैं। इसके अतिरिक्त उसका कोई भी अधिकार नहीं।

पुत्र हो गया तो वह पिता के धन का उत्तराधिकारी समझा जाता है। माता का रोटी–कपड़े के सिवा घर में कुछ भी हक़ नहीं।

इस देश में स्त्रियों को तलाक देने का और पुनर्विवाह करने का न सामाजिक अधिकार है और न कानून ही। पुरुष पत्नी की चाहे उपेक्षा करे, चाहे उसे त्याग दे, पर पत्नी कुछ नहीं कर सकती। पुरुष पत्नी के जीते जी चाहे जितनी शादियाँ कर ले, समाज में निन्द्य नहीं माना जाता क्योंकि हमारे देश के राजा ही ऐसा करते आये हैं तो फिर प्रजा करे तो दोष क्या ?

विधवा होने पर भी स्त्री को अपने पति की सम्पत्ति में हिस्सा नहीं मिलता। उसकी सारी सम्पत्ति जेठ देवरों में बँट जाती है, पुत्र हुआ तो उसके हिस्से में पड़ जाती है। स्त्री को हमेशा रोटी कपड़ों के लिये दासी होकर रहना पड़ता है। कैसी आश्चर्य की बात है। उसीसे पालित बच्चे अधिकारी माने जायँ और वह अनधिकारिणी !

पारिवारिक जीवन को चलाने, खर्च सँभालने में स्त्रियों को साधारण मुनीम से ज्यादा अधिकार नहीं। परिवार की आय यदि ठीक हुई तो स्त्रियों की सलाह लेने की कोई आवश्यकता नहीं समझी जाती लेकिन आय कम हुई तो उनकी कुछ सलाह कहीं-कहीं चल जाती है—वह भी केवल उसके व्यय के संकोच को प्रसन्नता पूर्वक स्वीकार कराने के लिये ही। व्यय वह उतना ही कर सकती है जितना उसके मालिक अर्थात् पति का हुक्म हो।

दैनिक जीवन में स्त्रियों को अपने भाव व्यक्त करने की स्वतन्त्रता नहीं है। सास के सामने तो वे मुँह भी नहीं खोल सकतीं। किसी स्त्री की इच्छा हो कि वह किसी संस्था में जाकर या घर पर अध्यापक बुलाकर शिक्षण ले तो उसका विरोध होता है। स्त्रियों में वह शक्ति भी नहीं कि वे घर वालों के बिना पूछे अपने मन की कोई बात भी मुँह से निकाल सकें। वे तो दूसरों की बुद्धि से सोचती हैं, दूसरों की आँखों देखती हैं और दूसरों के मुँह बोलती हैं। यदि किसी स्त्री की इच्छा होती है कि परदा न करूँ तो वह अपनी इच्छा प्रकट करने तथा उसे कार्य रूप में लाने के लिये तो सर्वथा असमर्थ रहती है।

स्त्रियों की इन समस्त रुकावटों को दूर करने का सरल मार्ग यह है कि—

(१) उन्हें उच्च शिक्षण दिया जाय।

(२) विवाह उनकी इच्छा से और इच्छित वर से किया जाय।

(३) परदा-प्रथा हटा दी जाय।

(४) आर्थिक स्वतन्त्रता अर्थात् सम्पत्ति में उनका अधिकार हो।

(५) विधवा को भी इच्छानुसार विवाह करने का हक़ हो।

उपर्युक्त बातों में से एक भी प्रकृति के विरुद्ध नहीं है। पुरुषों के लिये हमारे समाज में कोई बन्धन नहीं है और कुछ हैं भी तो वे उनका पालन नहीं करते। क्या यह अन्धेर नहीं है?

"अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी
आँचल में है दूध और आँखों में पानी"

समाज का भूत

"क्या करूँ मुझे तो कुछ भी विरोध नहीं। मुझ से परदा और शर्म न की तो न सही परन्तु कोई देखेगा तो क्या कहेगा ? लोग यही कहेंगे कि तुम अपनी बहू को भी नहीं सँभाल सकीं। योंही बढ़-बढ़ कर बातें किया करती थीं।"

उस दिन जब मैं मालती बहिन की सास के पास गई और परदे की बीमारी से होने वाली समाज की दुर्दशाओं की ओर उनका ध्यान ले गई तो बहिनजी के मुख से उपर्युक्त उद्‌गार निकल पड़े।

मैंने कहा "बहिनजी ! 'कोई क्या कहेगा' बस इसी डर से आप उत्तम कार्यों को भी नहीं करना चाहतीं। अपनी आत्मा को मज़बूत बनाइये। पहिले आप परदे की बुराइयों को खूब अच्छी तरह समझ लें तो फिर आप को इतना डर नहीं लगेगा। कोई कुछ कहे तो आप भी तो उससे कुछ कह सकती हैं। और देखिये, मुझ से तो कोई कुछ नहीं कहता। मैं तो परदा नहीं करती। आम सभाओं में व्याख्यान भी देती हूँ और खुले बाज़ार ऊँची गरदन करके चलती भी हूँ।" "लेकिन बाज़ार में ऊँची गरदन करके चलना भी तो अच्छा नहीं है। स्त्रियों को तो नीचा सिर करके और नज़र को पैर के अँगूठे पर जमाकर ही चलना चाहिये। कम से कम आँखों की शर्म तो न खोनी चाहिये।" मैंने कहा आप का कहना बिलकुल ठीक है बहिनजी, 'आँखों की शर्म' की तो मैं भी पक्षपातिनी हूँ किन्तु इसका यह मतलब नहीं कि हम स्त्रियाँ नज़रों को धरती में ही गड़ाये रखें। हमारे सामने से यदि हाथी भी निकल जाय तो हमारी दृष्टि में न आवे। इसीलिये तो आज हमारी दृष्टि इतनी मोटी होगई है कि चाहे हम सड़क पर घूमें चाहे घर में केवल उसी वस्तु को देख पाती हैं जो हमारे मन के सामने रहती है। मज़ाल क्या जो दूसरी वस्तु हमारी नज़र में आ जावे। यदि सास

बहू को रसोईघर में रोटी लाने भेजती है और फिर तरकारी के लिये पूछती है कि कितनी है, तो बहू फिर दौड़ती जाती है और तरकारी बतला देती है। यदि सास ने फिर पूछ लिया कि तरकारी काहे की है तो, फिर चौके में भागना पड़ेगा। घर में कितनी अव्यवस्था रहती है? जाले लगे रहते हैं। खिड़की के दरवाजे पर गर्द जमी रहती है, और दीवालों पर धब्बे पड़े रहते हैं। घर के कोनों में कूड़ा-करकट जमा रहता है। मोरियाँ गन्दी रहती हैं। बर्तन चमचमाते हुए नहीं रहते। इन सब का कारण दृष्टि को जमीन में गड़ाये रखना ही है। इधर उधर देखने की हमें मनाई रहती है। तिसपर भी आँखों पर एक परदा और डाल दिया जाता है ताकि मनुष्य स्वभाव के कारण यदि हम भूलकर भी कुछ देखना चाहें तो न देख सकें। यह तो हमें सिखलाया ही नहीं जाता कि किस तरह हम अपनी दृष्टि को पैनी बनावें और देखना सीखें। जिस रास्ते से निकल जायँ उस रास्ते की सूक्ष्म से सूक्ष्म वस्तु भी हमारी निगाह में आनी चाहिये और उन चीज़ों के भीतर दूर तक घुसने की हमारी आदत होनी चाहिये। अब समय कल-पुरज़ों की नाईं चलते रहने का नहीं, वरन् देखने, सुनने-समझने और करने का है"

"न मालूम आप क्या बोल रही हैं बहिन! मेरी तो कुछ समझ में नहीं आया।" मालती की सास ने कहा—

मैंने तनिक दुखी होकर कहा कि "समझ में कैसे आवे बहिन! हम इसके लिये बनी ही नहीं हैं। मशीन की तरह कुछ गिने गिनाये काम हमारे लिये निर्धारित रहते हैं। वे सारे के सारे काम गुलाम की तरह हमें रात दिन करते रहने पड़ते हैं किन्तु इस परदे के कारण उन सब कामों को भी जो हमें सौंपे गये हैं हम अच्छी तरह जवाबदारी से नहीं कर सकतीं।"

"और तो सब बातें ठीक हैं परन्तु खाने पीने का विचार जितना हमारे यहाँ है उतना आप के यहाँ नहीं। आप तो इस दिशा में बिलकुल भ्रष्ट हो गयी हो। देखो न मैं जब भोजन करती हूं तब मज़ाल क्या कि ग्वाला तक चौके में पैर रख ले। परन्तु आप तो मुसलमानों और अस्पृश्य जातियों के हाथ का खा लेती हो। अब यह बताओ कि आपका भोजन पवित्र है या हमारा?"

मैंने कहा "बहिनजी आचार तो आप के बहुत हैं पर विचार नहीं। आप छुआछूत का तो बहुत ख्याल करती हैं किन्तु यह विचार होता है ऊपरी बातों का ही। अर्थात् आप मनुष्य से परहेज़ करती हैं, बुराइयों से नहीं"। वृद्धा ने आश्चर्य से कहा—"हैं हमारे चौके

मे तो कोई भी नहीं आता। आपने यह कैसे कह दिया।"
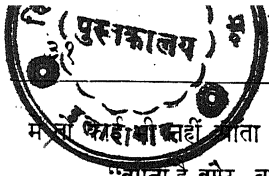
"आता है और बहुत बुरी तरह से आता है। किन्तु आपको उसका ज्ञान नहीं है। उनके हाथ का और उनसे स्पर्श किया हुआ खाने से आपके तथा आपके बाल-बच्चों के स्वास्थ्य पर बुरा असर होता है। अछूत तो अपना पेशा करते हैं। वह उनका कर्तव्य है। आप उन्हें नीच और अपने के उत्तम मानकर उनके और स्वयं अपने साथ अन्याय करती हैं और इसीलिये ईश्वर के सामने आप दोषी हैं।"

कुछ चौंककर और खिज़लाहट प्रकट करती हुई बोलीं—"अच्छा यह तो बताओ कि मुझसे बिना पूछे चौके में कौन जा सकता है?"

"बर्तन स्वच्छ न होने से, हाथों की चूड़ियों और छल्लों में मैल जमा हो जाने के कारण उनमें ऐसे विषैले कीटाणु पैदा हो जाते हैं जो भोजन सामग्री में मिलकर स्वास्थ्य को बिगाड़ देते हैं। खाद्य और पेय वस्तुओं को इस तरह की स्वच्छता से बनाना चाहिये जिससे पेट में विषैले कीटाणु न जा सकें। यह अस्वच्छता ही अछूत है, मनुष्य नहीं। मनुष्य से घृणा करना पाप है।" मैंने उत्तर दिया। "क्या करूँ बहिन हमारे यहाँ तो कुछ ऐसे रीति रिवाज़ बना दिये गये हैं जिन्हें अब तोड़ते नहीं बनता।"

"बनाने-बिगाड़ने वाले तो हम ही हैं; जो रीति, देश, समाज और व्यक्ति के लिये उपयोगी होती है उसे हम ही बनाया करते हैं। और इसी तरह एक एक कर सब रिवाज़ें बनी हैं। धीरे-धीरे से रूढ़ि रूप में पड़कर हमारे अज्ञान के कारण समाज में, जड़ जमा बैठी हैं। आज हम इन्हें तोड़ते घबराते हैं सिर्फ इसीलिये कि......'कोई क्या कहेगा।' किन्तु स्मरण रखिये कि रूढ़ियाँ कर्ता-धर्ताओं के ही निगल जाती हैं।"

पुरुषों की मनोवृत्ति

विज्ञान के प्रसार, शिक्षा की वृद्धि आदि के साथ-साथ भारतीय स्त्री-पुरुष भी अपनीकमज़ोरियों, अपनी अज्ञता, और कलाहीनता आदि का अनुभव करने लगे हैं। जब तक मनुष्य अपनी कमियों का अनुभव नहीं करता, उसमें आगे बढ़ने की उत्कट इच्छा उत्पन्न नहीं हो जाती, तब तक वह उन कमियों को पूरा करने में असमर्थ रहता है। किन्तु ज्योंही वह जान लेता है कि मैं अन्धकार में पड़ा हुआ हूँ, तुरन्त उठने का प्रयत्न करता है। आज भारतीय स्त्री समाज को अपनी दशा का ज्ञान धीरे-धीरे होने लगा है। वह बहुत शीघ्र उठना चाहता है; किन्तु सदियों की निर्बलता को शीघ्र हटा देना भी हँसी खेल नहीं। अनेक अशिक्षित बहनें चाहती हैं कि वे भी अन्य स्त्रियों के समान आगे बढ़ें, आँख खोलकर दुनियाँ देखें और नारी कहलाने योग्य बनें। अवश्य ही वे अब अपने को समझने लगी हैं। अभी तक स्त्रियाँ समझती थीं कि हम कुछ नहीं हैं। पुरुषों की इच्छा-दासी होने के सिवा हमारा कोई अलग अस्तित्व नहीं है। हम उनकी दासी की भी दासी हैं। जिस वस्तु को पति प्यार करता है, चाहता है, चाहे वह हमें न भावे किन्तु फिर भी उसे प्यार करना हमारा धर्म है। इसी में स्त्री की उदारता है, बड़प्पन है और कल्याण है। यदि स्त्री ऐसा करने में असमर्थ रहती है तो वह आदर्श पत्नी नहीं, स्वार्थीक है। उसे तो लहू का घूँट पीकर, अपनी इच्छाओं का बलिदान कर, मन मसोसकर भी आदर्श बनना ही चाहिये, नहीं तो वह पति के मन से उतर जायगी। हायरी स्त्री-जाति! जो स्त्रियाँ पढ़ी-लिखी नहीं हैं, जिन्हें संसार का ज्ञान नहीं वे तो पुरुष की इच्छा दासी हैं ही; किन्तु जो पढ़ी-लिखी हैं उनमें भी अभी वह आत्म-बल कहाँ कि वे अपनी आत्मा की पुकार सुन सकें। अपवाद हो सकते हैं किन्तु साधारणतया पुरुषों को खुश रखने, रिझाने के लिये ही स्त्रियाँ अपनी सारी विद्या-बुद्धि

खर्च कर डालती हैं। वे पढ़ लिखकर होशियार क्या बन जाती हैं, अपनी बिन पढ़ी और अजान बहनों को पुरुषों की ही दृष्टि से देखने लगती हैं। अपढ़ और गँवार स्त्रियाँ बेचारी मन मसोसकर रह जाती हैं। यदि वे तनिक भी मन मैला करती हैं तो पति की कोपदृष्टि का शिकार बनना पड़ता है। 'ओछे दिल की' 'संकुचित विचारवाली' आदि अनेक उपाधियों से अलंकृत होना पड़ता है। कुछ पढ़ी लिखी स्त्रियाँ महिला समाज के लिये बरदान न होकर अभिशाप ही सिद्ध हुई हैं। किन्तु उनके विरुद्ध आज आवाज उठाये कौन? क्योंकि ये पढ़ी-लिखी, सुन्दर युवतियाँ ही समाज और देश की शोभा मानी जाती हैं। अपढ़ और गँवार स्त्रियों पर उनका प्रेम और सहानुभूति जैसी चाहिये वैसी नहीं होती, अन्यथा आज स्त्री-समाज ऐसा कूप-मण्डूक न रहता। कुछ बहनें अवश्य ऐसी हैं जो स्त्रीजाति की हीनावस्था पर आहें भरती हैं और उनके शिक्षण का, बुद्धि विकास का प्रयत्न करती हैं, उनका आदर सम्मान करती हैं और उस सम्मान को स्थिर रखने के लिये कष्ट झेलती हैं। उन देवियों का स्त्री-समाज सदा ऋणी रहेगा। एक बार 'देशदूत' में बहिन श्री रामेश्वरी देवी नेहरू ने "नवयुवकों की मनोवृत्ति" शीर्षक एक लेख लिखा था जिसमें बतलाया गया था कि पुरुष किस प्रकार मन बहलाने के लिये नुमाइशों में घूमा करते हैं और स्त्रियों को घूरा करते हैं। किस प्रकार वे सज-धजकर छैले बने घूमते हैं आदि। आज स्त्री-सुधार के साथ ही साथ पुरुष-सुधार की भी बहुत आवश्यकता है। स्त्रियों का तो बाहरी आवरण ही अधिक सुधारने की जरूरत है, जैसे वेषभूषा, आभूषण, रहन-सहन, रीति-रिवाज आदि। और ये सब बातें शिक्षण के साथ गहरा सम्बन्ध रखती हैं। स्त्रियों का "अन्तर" आज भी पुरुषों की अपेक्षा अधिक पवित्र है, यद्यपि उस पर विद्या का मुलम्मा नहीं चमक रहा है। पुरुष कुछ तो विदेशी सभ्यता में रँग जाने से और कुछ विद्या तथा सामाजिक आज़ादी के कारण से चम-चम करते हैं, किन्तु अन्तर उनका उतना पवित्र नहीं है। वे स्त्री का उत्कर्ष अपने से अधिक कभी भी देखना नहीं पसन्द करते। यदि पति सिर्फ मैट्रिक पास है और पत्नी इण्टर में पढ़ रही है तो पुरुष की रूह काँपने लगती है कि कहीं पत्नी की तपस्या अधिक होने से उसका इन्द्रासन न छिन जाय। दोस्त भी बारूद का काम करते हैं—'श्रीमतीजी बी० ए० में हैं जनाब और आप मैट्रिक फ़ेल! अब कानों को ज़रा सँभालकर ही रखिये, ज़रा ग़लती की नहीं कि बस आई क़यामत!' जिस प्रकार लड़की के दिल में पीहर से ही सास के प्रति डर पैदा कर दिया जाता है

उसी प्रकार पुरुषों में अधिक पढ़ी स्त्री का। किन्तु स्त्री कभी अपने से अधिक पढ़े हुए और अधिक अक्लमन्द पुरुष से नहीं डरती। वह हमेशा अपने से अधिक योग्य पुरुष को ही पसन्द करती है और उस पर अपना सर्वस्व न्योछावर कर देती है। पुरुषों के विचार भी स्त्रियों के प्रति इतने साफ और समुज्वल होने चाहिये। स्त्री यह नहीं सोचती कि पुरुष हम से अधिक विद्वान होगा तो वह हमारी क़दर नहीं करेगा अथवा बात-बात पर हमारा अपमान करेगा, हालाँकि पुरुष करता है वैसा ही। और तभी तो वह स्त्री के अधिक विद्वान होने से डरता है। आज जो बरताव स्त्री कम पढ़ी-लिखी पाकर उसके साथ हम करते हैं वही फिर वह हमारे साथ करेगी। बात बात में वह हमें दबा लेगी। क्या यह हीनभावना नहीं है? उन्नत विचारों के लोग ऐसे विचार कभी नहीं रखते। वे दूसरे के उत्कर्ष से डरते नहीं, बल्कि दूसरे को आगे बढ़ते देखकर उनसे प्रेरणा पाते हैं और अपनी शक्ति को बढ़ाने लगते हैं।

स्त्री-सुधार के कार्य के आगे बढ़ने के साथ-साथ पुरुष को भी अपनी संयम शक्ति को, जो पश्चिमी चकाचौंध में खो-सी गई है, उन्नत करते जाना जरूरी है। स्त्रियाँ इस लिये न चहार-दीवारी के भीतर बन्द की गई हैं कि पुरुषों की स्वेच्छाचारिता पर परदा पड़ा रहे? किन्तु यह ठीक नहीं। जिस प्रकार फोड़ा शरीर के भीतर ही भीतर सड़कर रोगी को मृत्यु के मुँह में ढकेल देता है, उसी प्रकार यह घृणित-वृत्ति समाज को दिन-दिन चाटे जा रही है। स्त्रियाँ घूँघट इसलिये काढ़ती हैं कि उन्हें लोग देख न सकें। पर्दे में छिपी हुई वस्तु जितनी आकर्षक और लुभावनी लगती है, उतनी अच्छी होने पर भी पास में पड़ी हुई नहीं लगती इसलिये लोग उस ओर अधिक देखने की चेष्टा करते हैं। परदे में रहने से स्त्रियाँ संसार की हलचलों से अपरिचित भी रहती हैं। उनके सामयिक ज्ञान की वृद्धि के आगे यह असामयिक परदा मैजिनो लाइन बनकर खड़ा है। किन्तु वर्तमान में जीवन-संघर्ष इतना बढ़ गया है कि मैजिनो लाइन के भरोसे बैठे रहना और संसार के विकास से अपने को अपरिचित रखना मानों अपना गला अपने हाथों घोंटना है। आज घर में छुपकर रहने का समय नहीं है।

जो देश गुलाम हो, उसके वासियों के लिये संसार में इज्ज़त कहाँ है? गुलाम अपनी बहू-बेटियों को परदे में छिपाकर इज्ज़त की पाग बाँधे बैठे रहते हैं। समझ लेते हैं कि इसी में हमारी इज्ज़त की इतिश्री है। पर इज्ज़त कहते किसे हैं? इज्ज़त की व्याख्या क्या है? इस पर कभी नहीं सोचते। धन में इज्ज़त नहीं है। धन तो राक्षसों

और पापियों के पास भी हो सकता है किन्तु क्या उन्हें आत्मिक शान्ति, सन्तोष और सच्चा सुख मिलता है ? क्या संसार उनकी इज़्ज़त करता है ? धनवानों के घर में भी असभ्यता और फूहड़पन का राज्य रहता है। ऐसे घरों में सुख शांति कहाँ ? दूसरे राष्ट्रों के समक्ष तो भारत के किसी भी वर्ग की इज़्ज़त नहीं है। यह अपने ही पापों का फल है जिन्हें अपनी पतिव्रता स्त्री पर विश्वास न हो, उनका यदि कोई विश्वास न करे तो बुरा क्या है ?

आज स्त्री-सुधार के साथ साथ पुरुष-सुधार भी होना अत्यन्त आवश्यक है। पढ़ी लिखी सुधारक स्त्री से यदि पुरुष वैसा ही व्यवहार करता है जैसा आज तक समाज में गुलाम स्त्रियों से होता रहा है तो स्त्री के लिये यह असह्य हो जायगा। वह पहिले से अधिक दुखी हो जायगी जिससे उसका मस्तिष्क और स्वास्थ्य खराब हो जायगा और घर अशान्ति का अड्डा बन जायगा। पढ़ी लिखी स्त्री का दिल अनपढ़ स्त्री से बहुत कोमल हो जाता है। वैसे वे अनेक विपत्तियाँ सहने में अधिक मज़बूत हो जाती हैं किन्तु तनिक भी अपमान उनके प्राणों का घातक बन जाता है। आज पढ़ीलिखी स्त्री के घर में होने पर पुरुष उसके सम्मान की चिन्ता नहीं करता। वह समझता है कि मैं तो पुरुष हूँ, आज़ाद हूँ; समाज मुझे दोष नहीं दे सकता। केवल स्त्री के कहने से क्या होता है ? समाज के अन्य लोगों की अपेक्षा मेरा व्यवहार अपनी स्त्री के साथ बुरा नहीं है। स्त्री भी बेचारी समाज की अन्य स्त्रियों की हालत देखते हुए अपने अपमान के लहू के घूँट पीती रहती है, किन्तु उसके हृदय की अशान्ति को मिटाने की शक्ति परम पिता के सिवा किसी में नहीं।

———

एक अन्तरंग चित्र

मालती आठ साल की सुघड़, गम्भीर और विनयशील बालिका है। वह एक साफ सुथरे कमरे में बैठी हुई कुछ कपड़ों की तह करके करीने से रख रही है। पास ही उसकी छोटी बहिन कुसुम बैठी गुड़िया बना रही है। उसका शृंगार कर रही है। यह भी बड़ी सुशील है। अभी पाँच साल ही की है। मालती ने गम्भीर भाव से कहा—"क्यों बहिन, बताओ अब के बार अपनी माँ के गुड्डा होगा या गुड़िया ?" कुसुम आँखें मटकाकर हँसती हुई 'गुड़िया' कह बैठी क्योंकि खेलने में उसे गुड़िया से ही अधिक आनन्द मिलता था। वह हँसती हुई प्यार की आशा से बहिन की तरफ देखने लगी किन्तु प्यार के बदले बेचारी के सिर और गाल पर तड़ातड़ तीन-चार चपतें पड़ गईं। मुँह फिराकर देखा तो सिर पर दादी बड़ी-बड़ी आँखें निकाले खड़ी थीं। दादी की डरावनी मूर्ति देखकर बहिनें सहम गईं और डर से काँपने लगीं। साहसकर मालती ने कहा, "नहीं दादीजी, माँ के तो भैया ही होगा, कुसुम तो अभी नन्हीं है। उसे समझ ही क्या है ?"

दादीजी तनिक शान्त होकर पास बैठ गईं और दोनों नाकों में दो अँगुलियाँ डालकर कुछ मन्त्र सा पढ़कर दोनों अँगुलियाँ कुसुम के सामने कर कहने लगीं कि इन दोनों अँगुलियों में से एक को पकड़ो। वह अँगूठे के पास की अँगुली को आगे-आगे करती थीं किन्तु कुसुम ने, जो अभी तक मुँह फुलाये बैठी थी लपककर बीच की अँगुली पकड़ ली। अँगुली पकड़ते ही फिर दादी बिजली की तरह टूट पड़ीं—तड़ातड़ तीन-चार थप्पड़ कुसुम के गाल पर जम गये।—"कलमुँही, तीन तो हैं और चौथी का आवाहन कर रही है। कहाँ समायेंगी इतनी ? मरती भी नहीं एक—दो" कहती हुई दादी तमककर मुँह फुलाये कमरे से बाहर हो गईं। मालती आँखें बन्द करके हाथ जोड़कर

भगवान से प्रार्थना करने लगी—"हे भगवान ! माँ को अब के बार बेटा ही दे दो, नहीं तो हम लोगों की खैरियत नहीं। यदि माँ को चौथी बेटी और हो गई तो हमारी दशा घर के पत्थर से भी बदतर हो जावेगी।" मालती की बुआ केशर अभी तक कमरे के बाहर बैठी कसीदा काढ़ रही थी। माता के चले जाने पर वह लड़कियों की कार्यवाही बड़े ध्यान से देख रही थी। मालती के उपर्युक्त शब्द सुनकर केशर ने कहा—"अरी, पत्थर होती तो घर बनाने के काम तो आती किन्तु तुम्हें तो रोज सबेरे ही सेर भर रोटी खाने को चाहिये।"

मालती सहम गई। उसने लज्जा से मुख नीचा कर लिया। उसे अपनी बुआ के कहने का कुछ भी दुःख न हुआ। दुःख उसे इस बात का हुआ कि उसके मुँह से ऐसी बात क्यों निकली। अपने घर वालों के प्रति ऐसे तुच्छ विचार उसके मन में क्यों आये ? मालती मन लगाकर अपना काम करने लगी। इतने ही में माता नौ महीने का पेट लेकर एक पाँव कुछ घसीटती, ठसकती हुई गोद में डेढ़ साल की बच्ची को लिये पीड़ा से आँखें ततेरती आ पहुँची और दुख से कहा—"तू भी मालती यहाँ आराम से बैठी हुई है। ज़रा लता को नहीं रखती। कलूटी मेरी जान खाये डालती है। नीचे छोड़ देती हूँ तो सारे घर में ऊधम करती है और सब सामान उलट-पलट डालती है। अभी दादीजी के पूजाघर में घुस गई थी। उन्होंने चन्दन घिसने का पत्थर ही फेंक मारा था किन्तु यह ऐसे ही मरनेवाली नहीं।" कहते–कहते माता के नेत्रों से टप-टप आँसू गिरने लगे।

मालती बेचारी अवाक होकर देखने लगी। उसकी समझ में यह सब किस्सा नहीं आया पर माता का दुख वह जान गई। चट उठकर माता की गोद से लता को ले लिया और कहने लगी—"माँ तुम्हारी तबियत ठीक नहीं है तुम तनिक लेट जाओ या बैठ जाओ। तबियत अभी खराब हो जायगी। अब तुम पापड़ मत बेलो।" माता ने तनिक शान्त हो मुस्कुराकर कहा—"पगली, कहीं पापड़ बेलने से भी तबियत खराब होती है। काम करने से तो तबियत अच्छी रहती है।" उसके पेट में फिर दर्द उठने लगा किन्तु कराहती हुई कुछ तनकर दर्द सहन करने की चेष्टा करती हुई वह वहीं बैठ गई।

इतने ही में पड़ोस से बाजे की ध्वनि सुनाई दी। नाई दूब लेकर आया। उसके हाथ में सोने के कड़े, सिर पर रेशमी ज़रीदार केशरिया साफ़ा और बदन पर

लम्बा कोट था। उसने दादीजी के सामने दूब ले जाकर रखी। दादीजी ने दूब उठाकर सिर में लगाई और नाई को पाँच रुपये इनाम देकर बिदा किया। इतने ही में मालिन सब्ज़ी लेकर आई। दादीजी ने उसकी टोकरी में सवा रुपया डाल दिया। पड़ोस में अभी लड़का हुआ था। उसीके उपलक्ष में बाजे सुन पड़े थे। खुशी में घर-घर बधाइयाँ बँटने लगीं। पड़ोस की सभी स्त्रियाँ लड़का होने का आनन्द मनाने के लिये दौड़ गईं। दादीजी भी गईं। सभी ने मिलकर खूब गीत गाये। जच्चा को देखने के लिये लेडी डाक्टर बुलाई गई। उसके पास एक नर्स भी रखी गई। लेडी डाक्टर को इनाम में एक सोने की जंजीर मिली। जच्चा को खानापीना लेडी डाक्टर की सलाह से ही दिया जाता था। भय था लड़के को कुछ हो जाने का।

"मालती मेरी तबियत बहुत खराब है। ज़रा जल्दी जा दादीजी को बुला तो ला, बेटी?" मालती की माँ ने कराहते हुए कहा। मालती बगीचे में दौड़ती हुई भैया होने का स्वप्न देखती, गीत गाती, दुलराती, लोरी देती, झूमती दादी के पास पहुँची और हाँफते-हाँफते बोली—"दादीजी जल्दी चलिये।" दादीजी ने आश्चर्य से कहा—"अरी क्या हुआ, अभी तो मैं आई ही हूँ।" मालती ने कुछ अटकते हुए कहा—"कुछ नहीं माँ......माँ......की तबियत......"। दादीजी—"अच्छा अच्छा, चल जल्दी, हे भगवान! मुझे भी पोते का मुँह दिखाना।" कहती हुई जूतियाँ घसीटती घर आईं। "क्या है बहू? तबियत कैसी है?" बहू आंखों में आँसू भर कर—"माँ मेरी तो जान निकली जाती है" कहकर कराहने लगी। सास ने कहा—"अरी जचकी घर में तो चली जा—क्या यहीं जनेगी?" मेरी माँ—"मुझ से चला नहीं जाता।" "तो पहले ही क्यों न चली गई?" "माँ, मुझे ज़रासा सहारा दे दो। चली जाऊँगी।"

"बहू को सहारा देती हुई दादी ने पुकारा "अरे रमई, रमई जल्दी जा, दाई को और नाइन को बुला ला।" फिर दूसरी ओर मुँह फिराकर पुकारा—"बेटा केशर! ओ बेटा केशर! ज़रा जल्दी कर बेटा।" "क्या माँ, क्या करूँ?" "अरी, वह निवार वाला पलंग जिसकी निवार कहीं-कहीं चूहों ने कतर डाली है वही। समझी न? और वही पुरानी गद्दी। पारसाल मैंने तो नई भरवा ली थी और मेरी उतरी हुई गादी है न? उसे ले आ। एक तकिया और एक चद्दर भी ले आना। बेटा हो तो बहू के लिये बिछावन करवा देना। दाई को सब सामान दूर से दे देना। वह बिछा देगी। पड़ोसी ने बेटा होने पर सोने की जंज़ीर डाक्टरनी को दी है। हम क्या उनसे कम हैं? बेटा होगा तो हम भी

डाक्टरनी को बुलायेंगे और उसे सोने की जंजीर, कपड़े सभी कुछ इनाम देंगे !"

यह सब बातें बरामदे में खड़ी-खड़ी केशर की माँ केशर से कह रही थी और बहू ? बहू अन्दर कमरे में पीड़ा से अधीर होकर छटपटा रही थी।

केशर ने कहा—"और मेरा चन्द्रहार कहीं भूल न जाना।"

पार्वती—"हाँ, हाँ, तू पहिले ले लेना बेटी ! नौकर-चाकरों को इनाम और ब्राह्मणों को दान बाद में किया जायगा।" "इतने ही में दाई आ पहुँची और लगी एक के बाद दूसरी पीढ़ी का गुणगान करने। बोली—"यजमान मुझे क्या मिलेगा ? डागदरनीबाई को तो आप लोग कराठी पहनाते हैं जिससे आप कुछ भी नहीं करवाते।" दादी ने बीच ही में रोककर कहा—"अरी, अभी से झगड़ती क्यों है। तुझे भी राज़ी किया जायगा। नाइन भी आकर बोली—"मैं तो बाजूबन्द पहिनूँगी जजमान।"

"तू आ गई" जा बहू को जचकी घर में सम्हाल। देख धीरे-धीरे ले जाना उसे बहुत तकलीफ़ हो रही है।"

"अच्छा, अच्छा" कहती और मुस्कुराती हुई नाइन बहू के पास गई।

"क्या है बहूजी बहुत तकलीफ हो रही है क्या ?" "अरी तू तकलीफ पूछती है इस वक्त। कुछ मत पूछ।" कहते-कहते बहू की आँखों से झरझर करके सावन भादों की घटा झर पड़ी। "घबराओ मत बहूजी।" कोमल स्वर में नाइन ने कहा," "यदि बेटा हो गया तो तुम सारा दुख भूल जाओगी।"

जचकी घर में क्या था ? काली कोठरी ही तो थी। मानो उसी के डर से बहू जान छिपाये अभी तक दूसरे घर में बैठी थी। कहीं से भी प्रकाश या हवा आने का मार्ग नहीं। एक टूटी सी मूँज की रस्सी की खटिया पड़ी हुई थी। उस पर दो एक बोरियाँ बिछी थीं। बोरी का ही तकिया लगा था। पास ही में थोड़ीसी मिट्टी बिछी हुई और एक पर एक दो-दो ईंटें चुनी हुई रखी थीं। इसी पर बैठकर जचकी होगी। बहू को पहिनने के लिये मैले पुराने कपड़े दिये गये। ओढ़ने-बिछाने को भी वैसे ही। यह सब देखकर बहू को कुछ आश्चर्य नहीं हुआ क्योंकि वह इस दशा से तीन बार गुज़र चुकी थी। दाई ने ईंटों पर बैठ जाने को कहा, तब बहू कुछ रूठ कर बोली—"अभी से क्यों मुझे वहाँ बिठा कर तँग करती हो, दाई माँ ?" दाई ने कहा—"हैरान नहीं करती बहूजी—बच्चा अभी हुआ जाता है। तुम ज़रा ईंटों पर बैठ जाओ; नहीं तो बच्चा खटिया पर ही हो जायेगा" बेचारी पूरे डेढ़ घण्टे तक बैठी रही। दाई ने कहा—"अब तो बहूजी, बहुत

सुधार हो गया है। पहिले की बात सुनो तो मालूम हो कि सन्तान के लिये माँ को कितना कष्ट उठाना पड़ता था।" दाई का उपदेश चल ही रहा था कि बहूजी ने एक चीख मारी और बेहोश हो गयीं। उन्हें होश आया तो देखा कि वे टूटी खटिया पर पड़ी हैं और उनके पास लोकापमान से आँखें बन्द किये परमहंस का नाट्य करती एक नवोत्थित कली। घर में मातम था। जैसे आकाश से बज्र टूट पड़ा हो। बहूजी खाट पर पड़ीं कभी इसे पुकारतीं कभी उसे। पर सुनता कौन? कन्या को जन्म देने का महापातक जो उनसे बन पड़ा था।

आखिर एक दिन बहूजी की अर्थी उस घर से निकली। माँ ने क्षय से तंग आकर पुत्री की ओर से आँखें बन्द कर ली थीं। अब वह ऐसे स्थान को चल पड़ी थीं जहाँ पुत्र-पुत्री में कोई भेद-भाव नहीं रह जाता। औरतें आयीं, आँसू बहे, ब्रह्मपुरी हुई, दीन-दुखियों और कँगालों को भोजन मिला। ठीक उस समय जब कि हज़ारों की संख्या में ब्राह्मणों को अन्न-वस्त्र लुटाये जा रहे थे बहू की एकमात्र यादगार नन्हीं बच्ची एक घूँट दूध के लिये बिलबिला रही थी। इतने में दादीजी आयीं। दो एक बार हिलाया-डुलाया, चुपकारा किन्तु जब कई बार समझाने बुझाने पर भी उसने दादीजी का शासन मानने से इनकार किया तो दादीजी ने पालने पर पटक देने के साथ उसे गालियों के दो-चार मीठे घूँट भी पिला दिये जिनमें एकाध उसकी माता का स्मरण करा देने वाले भी थे। आखिर माँ नन्हीं बच्ची का वियोग सहन न कर सकी और उसे शीघ्र बुला लिया।

अग्रिम वर्ष एक दिन दोपहर के समय आँगन में ब्राह्मण बहूजी के श्राद्ध के उत्तम भोजन के लिये आशीर्वाद दे रहे थे, और बहूजी के पतिजी अपनी नवोढ़ा को उसकी दिवंगत सपत्नी की गुणगाथा सुना रहे थे।

महिलायें और नौकरी

भारत में स्त्रियों के साथ नौकरी शब्द का प्रयोग देखकर कुछ लोगों को आश्चर्य होगा किन्तु महिला-संसार की वर्तमान वस्तु–स्थिति हमें मजबूर करती है कि इस विषय पर हम कुछ विचार करें। स्त्रियों को नौकरी करना चाहिये या नहीं, यह एक गम्भीर प्रश्न है। विशेषतः भारतीय वातावरण में पले हुए लोगों के लिये तो इस प्रश्न का उत्तर देना और भी कठिन है। जो लोग इसके विपक्ष में हैं, उनका कहना है कि स्त्रियों के नौकरी करने से सामाजिक नियमों में गड़बड़ी होने लगेगी। स्त्री और पुरुष इस समाज-रूपी गाड़ी के दो पहिये हैं। इन दोनों को अपने कर्त्तव्यों का समान रूप से पालन करना चाहिये। स्त्रियों और पुरुषों के कार्य-क्षेत्र भिन्न–भिन्न हैं। स्त्रियों पर घर के सब कामों की ज़िम्मेवारी रहती है। पुरुष पर कमाने का उत्तरदायित्व रहता है। जब स्त्रियाँ भी नौकरी करने लग जायेंगी तो घर का काम कौन सँभालेगा। कितने ही नौकर-चाकर रखे जायँ किन्तु वे न माता के समान सन्तान का पालन-पोषण कर सकते हैं, और न उत्तम गृहिणी के समान घर का प्रबन्ध कर सकते है। कुछ लोग यों भी कहते हैं कि स्त्रियाँ अपने पति और घर वालों के अपमान से दुखी होकर यदि नौकरी करना चाहती हैं, तो क्या वे जिसके यहाँ नौकर रहेंगी उसके द्वारा उनका अपमान नहीं होगा? दूसरों के द्वारा अपमान सहने से तो घर वालों से अपमान सहना अच्छा है। स्त्रियाँ यदि नौकरी करने लगीं तो पति-पत्नी में वैसा प्रेम भी नहीं रह सकता और न दोनों का जीवन आनन्दमय हो सकता है। इस पक्ष वालों की ऐसी बहुतसी दलीलें हैं जिनसे मालूम होता है कि स्त्रियों को नौकरी के झमेले में नहीं पड़ना चाहिये। लेकिन इस प्रश्न का एक दूसरा भी पहलू है। स्त्रियाँ क्या स्वतः नौकरी करना चाहती हैं? क्या पुरुषों ने ही उन्हें ऐसा करने के लिये बाध्य नहीं किया है? जिन स्त्रियों का पिता या पति की सम्पत्ति पर कुछ भी

अधिकार नहीं है वे यदि नौकरी न करें तो फिर क्या वे केवल काठ की पुतली के समान पुरुषों के इशारों पर नाचें ? पुरुष चाहे जितना खर्च कर सकता है, चाहे सो कर सकता है, स्त्री जरा भी ज़बान नहीं खोल सकती कि तुमने ये पैसे क्यों बरबाद कर दिये ? परन्तु स्त्री यदि शुभ कार्य में भी पैसा खर्च करना चाहती है तो पति से बहुत डरती है और उसकी आज्ञा लेती है। यदि उसने खुशी से कुछ दे दिया तो बेचारी कुछ कर सकती है। बदले में गठरी भर अहसान भी अपने ऊपर लाद लेती है। ऐसे बहुत थोड़े लोग होते हैं जो स्त्रियों पर पूर्ण विश्वास रखते हों और कमाई का सारा पैसा उन्हें सौंप देते हों। यदि स्त्रियों को अपने पति की कमाई पूर्ण स्वतन्त्रता से खर्च करने का अधिकार मिल जाय तो शायद वे नौकरी करना पसन्द न करेंगी। पुरुष स्त्रियों को तुच्छ दृष्टि से देखते हैं। वे समझते हैं कि स्त्रियाँ मुफ्त में पड़ी-पड़ी खाती हैं। हमारे यहाँ के मजदूरों की हालत भी स्त्रियों से अच्छी रहती है। वह मालिक के नाराज़ होने पर नौकरी को ठुकराकर अपने सम्मान की रक्षा कर सकता है। स्त्रियों को यह अधिकार भी नहीं है। आज से ही नहीं, प्राचीन काल से ही स्त्रियाँ इस दृष्टि से देखी गई हैं। राम ने कर्तव्य पालन के लिये निरपराध सीता को घर से निकाल दिया था। धर्मराज युधिष्ठिर ने द्रौपदी को जुए की बाज़ी में लगा दिया। इन सब बातों से यह पता चलता है कि हिन्दुओं के त्रेता या द्वापर युग में भी स्त्रियों और पुरुषों के अधिकार समान नहीं थे। आज तक जितना भी इतिहास देखने को मिलता है उसमें यह कहीं नहीं दिखाई देता कि कोई स्त्री अपने पति को जुए में हार गई या किसी स्त्री ने अपने पति को घर से निकाल दिया। झूठी बात पर तो दूर रहा, सच्ची बात पर भी स्त्री पति से कुछ नहीं कह सकती क्योंकि पति कमाता है, इसलिये चाहे जो कर सकता है। वैसे तो हमारे धर्म-शास्त्रों में लिखा है कि पुरुष को स्त्री के साथ बराबरी का व्यवहार करना चाहिये; स्त्री पुरुष की अर्धांगिनी है आदि। परन्तु इसका पालन कितने लोग करते हैं ? माँगने से तो भीख भी नहीं मिलती, अपने अधिकार मिलने तो दूर रहे। इसलिये स्त्रियों को इस योग्य बनना चाहिये कि वे अपने अधिकार ले सकें। जब स्त्रियाँ योग्य बन जायँगी तो किसी की ताकत नहीं कि उनके अधिकारों को दबाकर रखे। इसके लिये स्त्रियों को ऐसे-ऐसे हुनर सीखने चाहिये जिनके द्वारा वे कम से कम अपना खर्च अवश्य चला सकें। जिस दिन पुरुष समझ लेंगे कि स्त्रियाँ हमारी आश्रिता नहीं हैं उस दिन वे अपने आप स्त्रियों का सम्मान करने लगेंगे। सम्भव है, स्त्रियों के घर से बाहर निकलने पर

सामाजिक नियमों में कुछ गड़बड़ी होने लगे परन्तु एक बार ऐसा होना ज़रूरी है। कभी-कभी सुधार के लिये किसी चीज़ को बिगाड़ना भी पड़ता है। हमारे देश की स्त्रियाँ स्वतन्त्र होने पर भी ऐसा कार्य कभी नहीं कर सकतीं जो उनकी सदियों से आती हुई महानता और त्याग को कलंकित करे। भारत की स्त्रियों का त्याग और प्रेम प्रसिद्ध है। उन्होंने प्रेम और त्याग से अपना नाम अमर बना लिया है। संसार के इतिहास में उनका प्रेम आदर्श माना गया है परन्तु पुरुष समाज ने उसका बदला अपमान, धोखेबाजी और लाठियों से दिया है। उन्होंने पवित्र प्रेम को एक बाज़ारू चीज़ समझा है। वे समझते हैं कि स्त्रियाँ हमारे घर के काम, हमारी सेवा और हम से प्रेम करने के सिवा और कर ही क्या सकती हैं? बात भी ठीक है, पुरुषों ने सचमुच उन्हें ऐसा ही बना रखा है। स्त्रियाँ हमारी दासता से मुक्त न हो जायँ इस डर से शास्त्रों द्वारा धार्मिक कथाओं के रूप में उनको उपदेश दिलाये गये। स्त्रियाँ श्रद्धापूर्वक उन नियमों को सुनती हैं और उनका पालन भी करती हैं परन्तु क्या पुरुष समाज भी अपने बनाये नियमों का पालन करता है? अधिकारी लोगों की बात तभी सुनी जाती है जब वे भी अपने कर्त्तव्यों का पालन करते हैं। जब वे अपने कर्त्तव्य से गिर जाते हैं तब नीचे के लोग भी अपने कर्त्तव्य पालन में शिथिल होने लगते हैं। यही हालत स्त्रियों की है। कोई यह सब कहाँ तक कर सकता है? यदि इतना प्रेम, इतनी सेवा, ईश्वर की की जाती तो आज न जाने क्या फल मिलता? हमारे शास्त्रों में तो लिखा है कि स्त्री के लिये उसका पति ही ईश्वर है और स्त्रियों ने अपने पति को ईश्वर रूप माना भी, परन्तु उसका फल उन्हें अपमान के रूप में मिला।

अब स्त्रियाँ कुछ-कुछ समझने लगी हैं। उन्हें मालूम हो गया है कि जब तक वे अपने पैरों पर खड़ी नहीं हो जातीं तब तक पुरुष समाज उनकी इज्ज़त नहीं करेगा। यदि स्त्रियाँ समझें कि पुरुष समाज सुधर रहा है और उन्हें अपने अधिकार मिल जायेंगे तो यह उनकी गैरसमझी होगी। यदि हमें भूख लगी है तो हमें अपने हाथ से खाना होगा। दूसरे को क्या मालूम कि हमें भूख लगी है और मालूम भी हो तो वह हमें क्यों खिलाने लगा? अधिक से अधिक कोई यह कह देगा कि तुम को खाना सीखना चाहिये जैसा कि आजकल के सुधारक कहा करते हैं। स्त्रियों को चाहिये कि वे अपने अधिकारों को समझें और अपनी रक्षा के लिये शक्ति पैदा करें। दूसरों की दया पर मिले हुए अधिकार कितने दिन टिक सकेंगे? दान जिस प्रकार कोई दे सकता है उसी

प्रकार ले भी सकता है। इसलिये किसी की मेहरबानी की आशा लगाकर कभी न बैठना चाहिये। मैं तो चाहती हूँ कि स्त्रियाँ इज्जत के साथ अवश्य ऐसा धन्धा करें जिससे वे किसी की मोहताज न रहें। नौकरी ही क्यों और भी अनेक अच्छे-अच्छे धन्धे हैं। यदि हम उद्योग करें तो काफ़ी कमा सकती हैं। स्कूलों में पढ़ाना, डाक्टरी करना, आदि धंधे तो बहुत ही सम्मान और इज्ज़त के हैं। साथ ही छोटे-छोटे धन्धे भी हैं। सीना, कसीदा काढ़ना, रँगना, चित्रकारी, खिलौने बनाना और खाने पीने की चीजें तैयार करना इत्यादि अनेक ऐसे कार्य हैं जिन्हें स्त्रियाँ बड़े आनन्द से कर सकती हैं। स्त्रियाँ जब पुरुषों पर इतना विश्वास करती हैं तो पुरुष-समाज भी स्त्रियों पर विश्वास क्यों न करे। जब तक स्त्रियों को आर्थिक स्वतन्त्रता नहीं मिलेगी तब तक उनका आदर सम्मान नहीं हो सकता। निस्वार्थ प्रेमियों की बात छोड़ दीजिये। साधारण लोगों में बिना स्वार्थ कोई किसी की परवाह नहीं करता। वैसे तो पुरुषों का स्त्रियों से बहुत स्वार्थ रहता है और वे उनकी सुनते भी हैं; परन्तु ज्योंही उनके स्वार्थ को धक्का लगा कि उनकी आँखों का रंग बदल गया। कुछ लोग तो डंडे से भी बात करते हैं। साधारण घरों में देखा जाता है कि बीमारी की हालत में भी स्त्रियाँ घर का सारा काम करती हैं और पुरुष बीड़ी पीते तथा गप लगाते रहते हैं। इन सारी बातों पर विचार करने से मालूम होता है कि स्त्रियों को आर्थिक स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिये कोई न कोई धन्धा करना चाहिये। इसके बिना वे अपनी स्थिति को सम्हाल नहीं सकतीं।

हमारी वेश-भूषा

साहित्य में कला का जो स्थान है, धर्म में संस्कृति और सभ्यता का जो मूल्य है, काव्य में व्यजंना की जो प्रतिष्ठा है, भक्ति में शुद्धता, सरलता और विनय का जो स्थान है, वही सौन्दर्य में वेष-भूषा का है। वेष-भूषा स्वयं निर्जीव होकर भी वातावरण को सजीवता देती है। उसमें मानव की आत्मा की झलक भी रहती है और मस्तिष्क की तस्वीर भी। वह स्वयं बोलती भी है। ऐसी आवश्यक वस्तु को हम उपेक्षित कैसे रख सकते हैं।

वैसे तो अधभूखे भारत में वेष-भूषा पर विचार ही क्या ? मैले-कुचैले शरीर को चिथड़ों से किसी प्रकार ढक लेने वाली जनता की वेष-भूषा में सुधार ही कैसा ? उसकी छानबीन ही क्या ? किन्तु छोटासा पूँजीपति वर्ग भारत में ऐसा है जो अत्यधिक और अनावश्यक वस्त्राभूषण रखकर उनका दुरुपयोग भी करता है। जैसे मारवाड़ी समाज का भूतकालीन तीन थान का एक घाघरा चार पोशाकों के खर्च का ही नहीं, भद्दा भी होता है। साथ ही साधारण स्त्रियाँ वस्त्रों में पैसे खर्च करके भी अपने को व्यवस्थित नहीं रख पातीं। उनके सामने भी वेश की समस्या है ही।

वेष-भूषा व्यक्ति की ही नहीं समाज और राष्ट्र की रुचि की परिचायक है। आज हम अधिकतर वेषभूषा धारण करते हैं वह समाज की दृष्टि से ही, व्यक्ति की दृष्टि से नहीं। यह समाज के लिये बहुत अच्छी चीज़ है क्योंकि समाज की भलाई की दृष्टि से जो कार्य होता है उसमें दृष्टि व्यापक रहती है और व्यक्ति की दृष्टि से जो कार्य होता है उसमें संकुचितता। फिर वेश का जन्म ही सामाजिक प्रवृत्ति के कारण हुआ है। यदि हमारा पिछड़ा हुआ समाज व्यक्ति की दृष्टि से वेषभूषा पहिनता तो कभी भद्दी वेषभूषा नहीं पहिन सकता। वह शरीर सजाने के लिये इस प्रकार की वेषभूषा नहीं पहिनता।

वह तो समाज की रूढ़ि पालने के लिये ऐसा करता है। हमारी बहुतसी महिलायें जानती हैं कि घाघरा-ओढ़नी से साड़ी अच्छी है। अँगिया की अपेक्षा ब्लाउज़ अच्छा है। सिर में बोर न डालकर स्वच्छता से केश बाँधना सुन्दर है। कानों में बहुतसी बालियाँ पहिनने से और मोर के पंख डाल-डाल कर उनमें बड़े-बड़े छिद्र करने की अपेक्षा सिर्फ हल्की सी इयरिंग अच्छी है। गले में अनेक गहने डालने की अपेक्षा एक हलकी सी चेन बहुत काफ़ी है। हाथों में बाजूबन्द और लम्बी चूड़ी न पहिनकर हल्की और सुन्दर दो चार चूड़ियाँ पर्याप्त हैं। उसी प्रकार पैरों में सेर-सेर दो-दो सेर चाँदी लादकर अपने पाँव में बेड़ी डालने से मुक्त रहना लाभदायक और सुखप्रद है। फिर भी बहुतसी बहिनें यह सब जानती हुई भी वही पहिनती हैं, इच्छा रखते भी उसे छोड़ती नहीं। किस लिये? शृंगार की दृष्टि से न छोड़ती हों सो बात नहीं है। समाज की रीति पालने के लिये ही वे कष्ट सहकर भी उसे पहनती हैं जो अभी तक उनके पुराने लोगों में चला आया है। वे चाहती हैं कि हम साफ़ सुथरी साड़ी पहिनें। पर समाज में घाघरे का रिवाज़ है। इसलिये वे दिल मसोसकर रह जाती हैं और समाज की रिवाज़ पालने के लिये घाघरा ही पहिनती हैं। वास्तव में यह उनका त्याग है, संयम है और अज्ञानमूलक होने से उस त्याग की—उसी तरह की स्त्रियों को छोड़कर—किसी की दृष्टि में कोई कीमत नहीं। हमें यहाँ समाज की दृष्टि से ही वेषभूषा पर विचार करना है व्यक्ति की दृष्टि से नहीं। मारवाड़ी वेषभूषा में, यदि उसे कलात्मक ढँग से पहिना जाये तो सौन्दर्य नहीं, सो बात नहीं। सौन्दर्य है पर सादगी नहीं। और आज का समय सादगी चाहता है। हर वस्तु में हमें सादगी दिखाई देती है। जिसमें सादगी नहीं है वह समय के अनुकूल नहीं है। रहन-सहन में सादगी, वस्त्राभूषण में सादगी, खान-पान में सादगी, बोल-चाल, विवाह-सगाई में यहाँ तक कि जन्म-मरण में भी सादगी है और ईश्वराराधन तो सादगी बिना अशक्य ही है। अब आडम्बर और दिखाने का समय नहीं रहा। सेवा और त्याग का समय है।

जिन्हें हम फेशनेबुल विदेशी में रँगी हुई कहती हैं उन कतिपय स्त्रियों की वेष-भूषा में भी सिर्फ तीन ही जगह परिवर्तन मिलता है बाकी सब भारतीयता रहती है नाखून, बालों की कटिंग और ऊँची एड़ी के जूते इन तीन वस्तुओं के परिवर्तन के सिवा भारतीय स्त्री की वेषभूषा शुद्ध भारतीय ही रहती है। हाथों या नखों की लाली, ओठों की लाली, आँखों का काजल तो हमारे यहाँ प्राचीन है। आज की भारतीय स्त्रियाँ

नवीनता से या पच्छिम से प्रभावित होकर मेंहदी और पान की जगह रँग लगा लेती हैं किन्तु मैं इसे केवल विदेशी मानने के लिये तैयार नहीं क्योंकि ओठों की और हाथों की लाली हमारे यहाँ बहुत प्राचीन है। चाहे वह मेंहदी और पान में ही रही हो। मैं गर्व के साथ कहूँगी कि भारत की लाज आदि से अन्त तक स्त्रियों के हाथ ही रही है। उनका भूत तो उज्जवल है ही पर वर्त्तमान भी कम नहीं। पुरुष यद्यपि पूरे अँगरेज़ बने रहते हैं पर स्त्रियों ने आज भी विदेशी मेमों का बाना नहीं पहिना है। कोई एक आध स्त्री ने कहीं छुपेछुपाये कभी गाऊन पहिना हो तो दूसरी बात है पर पुरुषों के कोट, बूट, हैट आदि स्पष्ट नये आ गये हैं। व्यक्तिगत दृष्टि से जैसा पहिले कह आई हूँ कतिपय स्त्रियों ने—किसी ने नकल के रूप में और किसी ने असल के रूप में—वेषभूषा में परिवर्तन किया है पर समाज की दृष्टि से हमारी वेषभूषा आज भी वही है जो एक शताब्दी पहिले थी।

व्यक्ति की वेषभूषा का चुनाव समाज की दृष्टि से, और समाज की वेषभूषा का चुनाव राष्ट्र की दृष्टि से होना ज़रूरी है। व्यक्ति की दृष्टि राष्ट्र की वेषभूषा पर रहनी चाहिये और राष्ट्र ही की वेषभूषा पहिनना चाहिये। अब यह सोचना है कि राष्ट्र की वेषभूषा है कौनसी? तिरंगे झण्डे की तरह उसका चिन्ह तो अभी किसी ने निर्धारित नहीं किया है पर जिस तरह समस्त भारत से सम्बन्धित होने के कारण और अधिकतर जनता की भाषा होने के कारण हिन्दी ने राष्ट्र-भाषा का स्थान पा लिया उसी तरह जो वेषभूषा समस्त भारत से सम्बन्ध रखती हो और अधिक से अधिक जनों की हो वही राष्ट्रीय वेषभूषा हो सकती है। साड़ी, लहँगा और चड्डी चोली के ऊपर ब्लाउज़ या जम्फर स्त्रियों की यही पोशाक अधिकतर भारत में प्रचलित है। उसी प्रकार भाल पर बिन्दी, बिना किसी आडम्बर के सुन्दर केशराशि कानों में बुन्दे, गले में कण्ठी हाथों में दो चार चूड़ियाँ, अँगुलियों में एक आध अँगूठी अधिकतर भारत की महिलाएँ ये ही आभूषण पहिनती हैं।

आजकल की फेशनेबुल स्त्रियाँ भी अधिकतर अपने पतियों के दिल पर प्रभाव डालने के लिये शायद पच्छिम की ओर ललचायी दृष्टि से देखा करती हैं और अपने को सजाने में पूरी शक्ति लगाती हैं। फिर भी उनकी वेषभूषा एक दम 'फारिन' नहीं हो सकी। यही भारतीय संस्कृति है, आदर्श है, सभ्यता है। सब कुछ खोने के बाद भी जब तक संस्कृति और सभ्यता की एक हल्की किरण बाकी है तब तक सभी कुछ है।

भारत की कुछ स्त्रियाँ हाथ पैर सिर आदि विदेशी ढँग से सँवारकर भी उन्हें भारतीय साड़ी में ढाँक लेती हैं। भारत का प्रधान वेष यही साड़ी है जिसे एँग्लो-इण्डियन स्त्रियों के सिवा और किन्ही ने नहीं छोड़ा। नाखूनों की कटाई के सिवा हाथों का शृंगार तो सभी भारतीय स्त्रियाँ करती हैं। नाखूनों की लाली मेंहदी के रूप में भारतीय है ही। चूड़ियाँ भारत में सभी सौभाग्यवती स्त्रियाँ पहिनती हैं। कुमारियों और विधवाओं को तथा कुछ लेडी डाक्टरों को छोड़कर शायद ही कोई स्त्रियाँ हों जो चूड़ियाँ न पहनती हों।

देश में भाषा की तरह वेषभूषा में भी प्रान्त-भेद बहुत है। बंगाल में चौड़ी किनार की गहरी रंग की साड़ी, माँग में सिन्दूर, या हिंगूल, खुला सिर आदि विशेषतायें हैं। महाराष्ट्र में छोटी किनार की गहरे रंग की आठ नौगज़ी साड़ी स्त्रियाँ काछटा लगाकर खुले सिर, पहनती हैं। गुजरात में सफेद छगज़ी साड़ी, सिर ढका; पंजाब में सिल्वार, कुरता, सिर पर डुपट्टा; यू० पी० में साड़ी, कुर्त्ती; मारवाड़ में घाघरा और ओढ़नी सिर पर बोर हाथों में लम्बा चूड़ा (इसे तो वर्त्तमान में कुछ फेशनेबुल स्त्रियों ने भी लिया है) गले में दो तीन गहने, कानों में अनेक बालियाँ, दातों पर चूँप, कर्धनी आदि कई विशेषतायें हैं। कुछ वेष भूषायें संयुक्त भी हो गई हैं। मारवाड़ का घाघरा लहँगे के रूप में यू० पी० या गुजरात में भी है और परकर के रूप में महाराष्ट्रों में भी लड़कियाँ इसे पहिनती हैं। पंजाब, यू. पी. और गुजरात की सौभाग्यवती स्त्रियाँ भी सिर पर एक प्रकार का गहना पहिनती हैं। मुसलमान स्त्रियाँ भी सिल्वार के रूप में पायजामा, घाघरे के रूप में तिलक और सिर पर ओढ़नी लेती हैं। पर ये तिलक और ओढ़नी मारवाड़ी मुस्लिम महिलाओं में अधिक प्रचलित हैं। प्रायः मुस्लिम महिलाओं की वेषभूषा और बोली प्रान्त भेद के अनुसार ही भिन्न है। मारवाड़ी मुस्लिम स्त्रियाँ मारवाड़ी बोली और सिर के बोर के अतिरिक्त मारवाड़ी वेष में मिलती हैं। गुजरात की गुजराती बोली बोलती हैं और घाघरा या साड़ी पहिनती हैं। यू० पी० या पंजाब की मुस्लिम स्त्रियाँ पाजामा पहिनती हैं और पंजाबी स्त्रियाँ दुपट्टा ओढ़ती हैं। ये पंजाबी व अरबी फ़ारसीमिश्रित उर्दू बोलती हैं। महाराष्ट्र और बंगाल की मुस्लिम स्त्रियाँ साड़ी पहिनती हैं और बोली महाराष्ट्री व बंगाली प्रान्त भेद के अनुसार बोलती हैं। पर आजकल मुसलमानों का ध्यान उर्दू पर बहुत अधिक होने से वे उसे ही अपना रही हैं यद्यपि अशिक्षित मुस्लिम स्त्रियाँ अभी भी अधिकतर प्रान्त की भाषा ही बोलती हैं। बुर्का सम्भव है अरब आदि देशों का हो। मुस्लिम महिलाओं में मारवाड़ को छोड़कर यह बुर्का

अधिकतर प्रान्तों में प्रायः समान ही हैं। बुर्का और पायजामा मुस्लिम स्त्रियों की विशेषता है। आजकल शिक्षित महिलायें तो पायजामा नहीं पहिनतीं। साड़ी के अन्दर लहँगा ही पहिनती हैं और बुर्के को भी नापसन्द करती हैं। इसे धीरे-धीरे त्यागती जा रही हैं। अन्य भारतीय महिलाओं की वेष-भूषा में भी दिनों दिन बहुत साम्य होता जा रहा है। लपेटेदार बिला काछी छःगजी साड़ी तो बराबर उन्नति करती जा रही है। यह तो हिन्दी राष्ट्र-भाषा की तरह राष्ट्रीय पोशाक की अधिकारिणी होती जा रही है। सभी प्रान्तों की कालेज की लड़कियाँ इसी पोशाक को अच्छा समझती हैं पर पढ़ी लिखी नवीन महिलायें भी प्रायः ऐसी ही साड़ी पहिनती हैं। साड़ियों में गुजराती, बंगाली, महाराष्ट्रीय, मद्रासी आदि सभी किनारें और सभी रंग स्त्रियों ने अपना लिये हैं। महाराष्ट्रीय स्त्रियाँ हलके रंग की और सफेद साड़ी तो पहिनती ही हैं पर लुगड़े भी सफेद और हलके रंग के काफी परिमाण में पहिनती हैं। इसी तरह गुजराती स्त्रियाँ गहरे रंग को भी काफी पहिनती हैं और बंगाली किनार को भी पसन्द करती हैं। मारवाड़ी शिक्षित स्त्रियों में तो कुछ भेद भाव है ही नहीं। उनके सामने कोई भी अच्छी चीज़ आने भर की देर है किसी के पहिनावे में उन्हें कोई सौन्दर्य दिखा कि तुरन्त उसे ग्रहण करने की कोशिश करती है। वैसे तो प्रायः मनुष्यमात्र का स्वभाव है सौन्दर्य और कलासम्बन्धी वस्तुओं की ओर आकर्षित होना और उन्हें प्यार करना। पर स्त्रियों में यह गुण अधिक पाया जाता है। मारवाड़ी स्त्रियाँ इसे बहुत शीघ्र अपनाती हैं इसे सिद्ध करने की आवश्यकता है। यहाँ पर प्रश्न की गुंजाइश है। कोई यह सन्देह कर सकते हैं कि यदि मारवाड़ी स्त्रियों में सौन्दर्यग्रहण करने की अधिक शक्ति है तो फिर वे वेषभूषा में इतनी पीछे क्यों हैं? इसका कारण है मारवाड़ का वातावरण और अशिक्षा। किसी भी प्रान्त की देहाती और अशिक्षित स्त्री ऐसी ही है। मारवाड़ की बहुत अधिक ठंढ, और गरमी तथा पानी की बहुत कमी भी इसका कारण हो सकती है। वस्त्राभूषण में सौन्दर्य लाने के लिये स्वच्छता की बहुत अधिक ज़रूरत पड़ती है और स्वच्छता के लिये पानी की उतनी ही ज़रूरत है। पुरानी मारवाड़ी स्त्रियों में एक कहावत है। 'देश छोड़ना वेश नहीं छोड़ना'। पर आजकल की स्त्रियों ने इसे भी छोड़ दिया। किसी प्रान्त की स्त्रियों ने अपना वेष नहीं छोड़ा पर मारवाड़ी स्त्रियाँ जो देखती हैं और पसन्द कर लेती हैं उसी को अपना लेती हैं। यह बात बड़ी-बूढ़ी स्त्रियाँ चिढ़ कर कहा भी करती हैं।

राजस्थानी स्त्रियों के वस्त्राभूषण

राजस्थानी समाज में कुछ परिवार ऐसे हैं जिन्होंने अपनी वेश-भूषा में सुधार किया है। किन्तु ऐसे लोग अँगुलियों पर गिनने लायक ही हैं। बम्बई आदि बड़े-बड़े शहरों में रहने वाले, और कुछ सुधार-प्रिय सज्जनों के ही घरों में स्वच्छ, स्वास्थ्यप्रद और सुन्दर वेश-भूषा दिखाई देती है। अधिकतर समाज की वेश-भूषा आज इस क्रांति के ज़माने में भी एक शताब्दी पीछे की ही दृष्टिगोचर होती है। हमारी वेश-भूषा आर्थिक, स्वास्थ्य, सफ़ाई और सौन्दर्य की दृष्टि से आज उपादेय नहीं है। जिस वेश-भूषा में ये चारों गुण नहीं वह वेश-भूषा उपयुक्त नहीं मानी जा सकती।

अन्य प्रान्तीय बहनों की अपेक्षा मारवाड़ी बहनें वेश-भूषा पर अधिक खर्च करती हैं। उनका अकेला घाघरा ही ऐसा है कि जिसमें गुजराती बहनों की अनेक पोशाकें बन जायें।

इन भारी-भारी वस्त्रों के बनाने में स्त्रियाँ रात-दिन परेशान रहती हैं। यहाँ तक कि उन्हें घर-द्वार और बच्चों की देख-भाल की भी फ़ुरसत नहीं मिलती। घर में चारों ओर कूड़ा–कचरा जमा रहता है। बच्चों की नाक बहती रहती है लेकिन उन्हें अपने कपड़ों से फ़ुरसत मिले तब न? वे बड़े-बड़े घाघरे, ओढ़ने, चोली और कब्ज़ों में जाल तथा बेल–बूटे काढ़ने में लगी रहती हैं। इनके बनाने में धन और समय दोनों की बरबादी होती है। फिर भी दूसरे सभ्य समाजों के आगे इतनी मेहनत से बनाये हुए कपड़े हँसी के साधन होते हैं। किसी तरह एक बार बन जाने के बाद ये कपड़े जीवन भर धुल नहीं पाते। धुलने से इन कपड़ों का गोटा-किनारी सब कुछ खराब हो जाता है। मैल के कारण उनमें बदबू भी आने लगती है। तिस पर भी वे उनका पिंड नहीं छोड़ सकतीं। कपड़े प्रतिदिन धुले हुए पहिनना चाहिये। पर ये महीनों तक एक ही कपड़ा

पहिने रहती हैं। जाल और बेल-बूटे लगाकर बड़ी कठिनाई से वे इन्हें तैयार करती हैं, फिर ऐसे ही कैसे छोड़ दें? यदि कोई बहू-बेटी धुले हुए साफ और सफेद कपड़े पहिन ले तो बड़ी-बूढ़ी उनके जी पर आफत ढा देती हैं। वे उन्हें कुलक्षणा और 'स्यामन' आदि अनेक उपाधियों से विभूषित करती रहती हैं।

कपड़े कितने ही कीमती क्यों न पहने जायँ, यदि वे स्वच्छ नहीं हैं तो शरीर की शोभा को बढ़ाने के स्थान पर घटायेंगे ही। एक ओर खूब गोटे-किनारी से जड़ी लथ-पथ मैली पोशाक में एक स्त्री को खड़ा कीजिये और दूसरी ओर अत्यन्त स्वच्छ दो-चार रुपये की साड़ी पहिने किसी महिला को खड़ा कीजिये फिर निष्पक्ष होकर देखिये किसकी पोशाक अधिक जँचती है।

गुजराती बहनों को देखिये, क्या उनके कपड़े मारवाड़ी बहिनों से अधिक कीमती होते हैं? क्या गुजरात और मारवाड़ में बहुत अधिक अन्तर है? दोनों की सीमायें बिलकुल मिली हुई हैं। लेकिन हम पर इन पड़ोसिनियों का भी कुछ प्रभाव नहीं पड़ता। हाँ, ज्योतिषी, रमाल और जंतर-मंतर वाले अपना प्रभाव बड़ी सरलता से जमा लेते हैं।

स्वास्थ्य के लिये सफाई की बहुत अधिक आवश्यकता है। शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य दोनों पर ही वेश-भूषा का बहुत असर पड़ता है। कीमती होने के कारण, मैले होने पर भी कपड़ों का मोह नहीं छोड़ा जाता, यद्यपि उन्हें पहिनकर शरीर और मन मलिन अवश्य हो जाते हैं।

कीमती कपड़े किसी अवसर के लिये रखे जा सकते हैं लेकिन प्रतिदिन पहनने के कपड़े तो ऐसे ही होने चाहिये जो नित्य धोये जा सकें।

अनेक बहिनों को मैंने देखा है जिनके घाघरे सामने से तो ज़मीन से बातें करते हैं और पीछे से पिंडलियों पर चढ़े रहते हैं। सामने घाघरे के ऊपर पेट लटकता रहता है। यह लज्जाजनक बात है। कितनी ही बहिनों के घाघरे मैंने देखे हैं जिनमें जूँ पड़ी रहती हैं। इधर चूल्हे पर साग पका करता है और उधर वे घाघरे की जूँ मारा करती हैं। अपने समाज की बहिनों की ऐसी बातें बताते शर्म और घृणा से मस्तक झुक जाता है। परन्तु क्या किया जाय? हमें तबतक कोई कुरीति दिखाई ही नहीं देती कि जबतक कोई अच्छी तरह से हाथ पकड़कर दिखा न दे।

कुछ स्त्रियाँ अपने बिस्तरों की खोली, चद्दर तो शायद साल में एक या दो बार

ही धोती हैं और रज़ाई चार-चार साल में। इसी प्रकार गद्दी-तकियों को तो जन्म भर पूछने की ज़रूरत ही नहीं समझी जाती। अनेक बहिनों से जब इस विषय पर मेरी बातचीत होती है तब वे कहती हैं—यह तो पैसे वालों का काम है जो सफेद दूध-से धुले हुए कपड़ों पर सोयें। लेकिन उन बहिनों को समझ लेना चाहिये कि कपड़ों की धुलाई में बहुत ही कम खर्च होता है। सिर्फ चार पैसे महीने में हम अपने ओढ़ने-बिछाने के कपड़े अपने हाथ से धोकर स्वच्छ रख सकती हैं।

बच्चों के कपड़ों के विषय में भी स्त्रियाँ बहुत लापरवाही रखती हैं। इससे बच्चे बेडौल और बीमार रहते हैं। इस लापरवाही के बदले में हमें दिन की सुनहली घड़ियाँ, रात की नींद और डाक्टर की फ़ीस बलिदान-स्वरूप देना पड़ती हैं तथा चिन्ता से नाता जोड़ना पड़ता है। सभ्य समाज के सामने लज्जित होना पड़ता है। बच्चे जितने ही स्वच्छ कपड़ों में रखे जायेंगे उतने ही वे अधिक विकसित हो सकेंगे। बच्चों के लिये जरी के कपड़े बिलकुल ही नहीं बनवाने चाहिये। वे तो हलके और अत्यन्त स्वच्छ कपड़ों में ही खिले हुए फूल के समान मनोहर दिखाई देते हैं।

अक्सर हमारी राजस्थानी बहनें अब घाघरे के स्थान पर धोती का व्यवहार भी करने लगी हैं। ये धोतियाँ कभी-कभी तो अत्यन्त महीन और फैन्सी होती हैं जिनसे दूर पर खड़ा व्यक्ति भी वारपार देख सकता है। इन धोतियों के नीचे पेटीकोट न पहने हुए मैंने अनेकों बहनों को देखा है। इसी प्रकार कीमती ओढ़नी के होने पर भी चोली का प्रयोग न करने वाली बहुत बहनें मेरे सामने से गुज़री हैं। ये बातें अत्यन्त लज्जा-जनक एवं उपहासास्पद हैं किन्तु आश्चर्य तो तब होता है जब हज़ार समझाने पर भी ये बहनें पेटीकोट, चोली आदि का उपयोग करना स्वीकार नहीं करतीं।

कितना भद्दा मालूम होता है उस समय जब अस्तव्यस्त लाइन में राजस्थानी बहनें भारी भरकम लहँगों और ओढ़नियों में लिपटी सड़कों पर चोर के समान छिप-छिप इधर-उधर ताकती चलती हैं। बीसवीं शताब्दी का प्रथमार्ध व्यतीत प्राय हो जाने पर भी ये बहिनें एक कदम भी आगे नहीं बढ़ पायी हैं।

वस्त्रों के समान आभरण भी सौन्दर्य के साधन हैं। उनकी भी अपनी उपयोगिता है किन्तु वस्त्रों के समान ही हमारी राजस्थानी बहनों के आभूषणों की भी हालत दर्दनाक है। पहले बोर को ही देखिये। क्या बोर स्त्री के सौन्दर्य की वृद्धि करता है? हो सकता है, किसी ज़माने में बोर सौन्दर्य का प्रतीक माना जाता रहा हो। किन्तु सौन्दर्य के प्रति जनता का

दृष्टिकोण बदलता रहता है। आज इस फैशन और सादगी के जमाने में बोर से सौन्दर्य बढ़ने की अपेक्षा घटता ही है। हमारा नारंगी के समान बोर आज सर्चलाइट की उपाधि पा चुका है। मस्तक का यह टिमटिमाता दिया मस्तिष्क में प्रकाश का अभाव सूचित करता है। उसके बोझ से मस्तक में निशान पड़ जाता है और उसके नीचे के बाल उड़ जाते हैं। कभी-कभी तो देखने में आता है कि स्त्रियों के बोर को चोर कैंची से काट ले जाते हैं। ऐसी हालत में धन तो जाता ही है और सौन्दर्य के साधन केश, जिनमें बोर गुँथा रहता है वे भी बोर के साथ ही कतर लिये जाते हैं।

स्त्रियाँ सिर गुँथाती हैं और मोम लगाती हैं। यह भी अत्यन्त भद्दा रिवाज़ है। एक बार बँध जाने पर बालों में आठ-दस दिनों तक कंघी नहीं हो पाती। सिर में मैल जम जाता है। बदबू आने लगती है और कभी-कभी जूँ भी पड़ जाती हैं। ऐसी हालत में बाल शीघ्र पक जाते हैं और गिरने भी लगते हैं। बालों को तीसरे-चौथे दिन धोना चाहिये और हिफ़ाजत के लिये दिन में दो बार कंघी करना चाहिये। हम सिर को सोडे या साबुन से धोती हैं, यह भी बालों के लिये हानिकारक है। केश धोने के लिये सिकाकाई, या छाछ उत्तम होते हैं। इसी प्रकार अनेक सुगंधित तैलों के फेर में न पड़कर नारियल या तिल्ली के शुद्ध तेल से बने हुए तेलों का इस्तेमाल करना चाहिये। बालों में प्रतिदिन कंघी करने और अच्छे तेल की मालिश करने से सफ़ाई और सौन्दर्य के साथ ही साथ मस्तिष्क को भी लाभ होता है। स्वास्थ्य तथा मन पर भी इन बातों का अच्छा असर पड़ता है। अब कानों की बालियों की ओर दृष्टि घुमाइये। उनके वज़न से कान गोल हो जाते हैं। कभी-कभी तो कानों के छिद्र तक बालियों के बोझ से फट जाते हैं। फिर न तो वे बाली पहनने के ही काम के रहते हैं और न सुन्दर ही दीख पड़ते हैं। बालियों के इधर-उधर मैल जम जाता है और कभी-कभी चोरों की भी कृपा दृष्टि हो जाती है। कान छिदाते वक्त बच्ची को बहुत तकलीफ़ होती है। कान पक जाने पर माँ तथा बच्ची दोनों को ही अपने हाथों मुफ्त खरीदी हुई मुसीबत का सामना करना पड़ता है। बड़े-बड़े छेद वाले ये कान भी बड़े भद्दे दीखते हैं। नीचे के छेद मोर के पंख डालकर इतने चौड़े बना लिये जाते हैं कि उनमें अँगुली डालकर आसानी से कानों को उखाड़ा जा सकता है। ऐसी नौबत न आये तोभी कर्णफूल और झुमकों का बोझ कुछ कम कष्टदायक नहीं है। कितनी ही स्त्रियों के कानों के छिद्र तो बोझ से टूट तक जाते हैं और उनकी सौन्दर्याभिलाषा मन की मन में रह जाती है। इस प्रकार कानों

की शक्ल भी हम अच्छी तरह बिगाड़ डालती हैं।

काश हम इतना कष्ट यदि विद्या पढ़ने में उठावें तो आज मिट्टी से सुवर्ण बन जायँ। हमारी कष्टसहिष्णुता अन्तिम दर्जे की है; लेकिन हमारा यह उत्तम गुण हमारा ही नाश कर डालता है। और हम परले सिरे की स्वार्थी तथा गहनों की अत्यधिक शौकीन कहलाने का कलंक सहती हैं। यह शौक सिखाया है हमें पुरुषों ने ही। वे हमें गहनों से लादकर इसलिये समाज में भेजना चाहते हैं कि उनकी कीर्ति बढ़े। वे समाज में धनी और बड़े आदमी कहलावें। इसीलिये वे हमें अच्छे-अच्छे वस्त्र पहनाते हैं और दास-दासियों से घिरी बन्द मोटरों में इसलिये घुमाते हैं कि लोग जानें कि ये अमुक सेठ की श्रीमती है। अपढ़ स्त्रियाँ बेचारी इस सब पर इतरा बैठती हैं। वे अपनी वास्तविक स्थिति को भूल जाती हैं। उन्हें यह ध्यान ही नहीं रहता कि ये सब वस्त्राभूषण, राजपाट पुरुष इच्छा करते ही एक झटके में छीन सकता है।

हम गले में भी भारी-भारी गहने पहने रहती हैं जिससे गले पर मैल जम जाता और गला काला पड़ जाता है। मैल नहीं तो काले निशान तो पड़ ही जाते हैं। हम शरीर का कोई भाग गहनों से रहित नहीं रहने देतीं। यहाँ तक कि हम दाँतों तक में चूँप लगाती हैं। कोई कोई स्त्रियाँ तो दाँतों में छेद करवाकर उनमें चूँप पक्की करवा लेती हैं ताकि मरते समय उसे कोई निकाल न सके। चूँप के कारण दाँत साफ नहीं किये जा सकते जिससे उनमें बीमारी लग जाती है। इससे स्वास्थ्य को भी अत्यन्त हानि पहुँचती है। और अपने साथ दाँतों को भी ले जाती हैं। दाँतों का गहना तो उनकी स्वच्छता ही है। अनारदानों से चमकीले और दूध से धवल निर्मल दाँतों के सामने चूँप बेचारी कहाँ ठहर सकती है। हमारा अज्ञान ही हीरक-कण को फेंककर पत्थर उठाकर उससे प्यार करना सिखाता है।

अब पैरों की तरफ नज़र डालिये—प्रत्येक पैर में सेर-सेर भर के चाँदी के बेढंगे गहने उच्छृंखलता पूर्वक लटकते दिखाई देते हैं। इनके कड़ों, छड़ों की शृंखला घुटनों को छूती रहती है और जब इनकी सवारी निकलती है तो अनेकों के दिल दहला देती है अर्थात् इतने ज़ोर से टनाटन का बेसुरा गर्जन होता है, जो फ़र्लांग भर तक के लोगों को चौंकाये बिना नहीं रहता।

राजस्थानी समाज में कहीं-कहीं हाड़ों की चूड़ियों का अरुचिकर पहनाव जारी है। हाड़ के लम्बे-लम्बे चूड़े कोहनी से लेकर कन्धे तक और कलाई से लेकर

कुहनी तक रहते हैं। इसी प्रकार हाथ, पैर और मुँह पर काले-काले दाग गुदाने की रिवाज़ भी भद्दी और जंगली है। हर्ष की बात है कि यह रिवाज़ अब कुछ कम हो रही है।

गहना पहनना कोई बुरी बात नहीं है लेकिन उनका समयानुकूल और सुन्दर होना अत्यन्त आवश्यक है। मैं बहनों के गहने पहिनने का घोर विरोध नहीं करती क्योंकि भूषण सुन्दरता की वृद्धि के साथ समय-समय पर सहायक भी सिद्ध हुए हैं। वैसे तो पुरुष इच्छा होने पर किसी न किसी कौशल द्वारा गहने भी उतरवा लेता है लेकिन अब पुरुष को अनुभव हो गया है कि स्त्रियों के गहने ही विपत्ति में काम आते हैं। इसीलिये कुछ लोग इस तर्क का सहारा लेते हैं। स्त्री पति या पुत्रों को कष्ट में देखकर गहनों का मोह तो करतीं नहीं। कानून से स्त्री को सिवा अपने गहनों के और किसी प्रकार का आर्थिक अधिकार नहीं। स्त्रियाँ तो त्याग और सौजन्य की मूर्ति हैं, यदि उन्हें बार बार यही सिखलाया जावे कि गहने न पहिनो, गहने पहिनना सभ्य और शिक्षित स्त्रियों के लक्षण नहीं तो वे गहने भी न पहिनेंगी और जब वे उन्हें पहनती ही नहीं हैं तब उनके लिये गहने बनवायेगा ही कौन ? ऐसी दशा में स्त्रियों के पास आर्थिक अधिकार क्या रह जायगा ? इसलिये स्त्रियों को कला-पूर्ण ढंग के हलके और अपनी परिस्थिति के अनुकूल कीमती गहने पहिनना ठीक ही है। किन्तु ऐसी दलीलें देनेवाले सज्जन यदि स्त्रियों को पारिवारिक सम्पत्ति में भाग दिलाने के लिये कोई कानून बनवाने का प्रयत्न करें तो बड़ा उपकार हो।

पुरुषों को चाहिये कि वे शादी के समय जो गहने बनवाते हैं उनकी जगह बहू को नगद रुपये दे दें और किसी अच्छी जगह उन रुपयों को बहू के नाम से जमा करा दें। इस प्रकार सम्भव है, वे रुपये कुछ दिनों में दूने हो जायें। गहनों में वे आधे रह जाते हैं। इस प्रकार गहनों में बहू की दूनी हानि और ब्याज में चौगुना लाभ होता है। यदि बहू की इच्छा गहने पहिनने की हो तो वह अपनी इच्छानुकूल गहने भी अपने रुपये से बनवा सकती है। शादी के पहिले पति के घर से गहने दिये जाते हैं वे लड़की की पसन्द से नहीं बनवाये जाते इसलिये अनेक स्थानों में तो फिर से उन गहनों को तुड़वाकर नये गहने बनाने पड़ते हैं। इससे गढ़ाई का नुकसान उठाना पड़ता है और सोने में भी सुनार की छाप लग जाने से वह शुद्ध नहीं रह पाता।

यदि स्त्रियों को विश्वास हो जाये कि उनके रुपयों पर किसी की कुदृष्टि नहीं है

तो वे उन रुपयों को छिपाना या उनके गहने बनाकर बरबाद करना कभी पसन्द करें। आज स्त्रियाँ गहनों की इतनी भक्त इसीलिये हैं कि उनके पास सिवा गहनों के कोई दूसरा आर्थिक साधन नहीं है। स्त्रियों का गहनों से इतना प्रेम पुरुषों ने बलात् करवा रखा है। यदि उनके लिये कोई आर्थिक व्यवस्था हो जाये तो फिर पुरुष देखें कि स्त्रियाँ भी कितनी सादगी से और गहनों के बोझ से मुक्त रह सकती हैं।

यदि पुरुष वास्तव में स्त्रियों को अलंकृत देखना चाहते हैं तो उन्हें चाहिये कि वे स्त्रियों को विद्यारूपी आभूषण पहिनावें। इन आभूषणों से स्त्रियाँ जितनी अधिक शोभित हो सकती हैं उतनी सोने-चाँदी के गहनों से नहीं।

सिनेमा और स्त्रियाँ

वर्तमान समय में चित्रपट नागरिक लोगों के जीवन के साथ घुल-मिल से गये हैं। जीवन के लिये जैसे और कार्य उपयोगी और ज़रूरी समझे जाते हैं वैसे ही सिनेमा देखना भी आवश्यक समझा जाने लगा है। दिन-रात जीवन की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये श्रम करते-करते मनुष्य का मन इतना ऊब उठता है कि फिर उसे उन कार्यों में उत्साह और प्रेरणा के अभाव का अनुभव होने लगता है। इसलिये मन को ताज़ा और उत्साही बनाये रखने के लिये कुछ न कुछ मनोरञ्जन की आवश्यकता होती ही है। आज से कुछ पहले जब कि सिनेमा का इतना प्रचार नहीं था, मनोरञ्जन के अन्य साधन थे। उस समय नाटक और सर्कस आदि में लोग ऐसा ही रस लेते थे। परन्तु असुविधाओं की अधिकता के कारण उनका प्रचार धीरे-धीरे कम होता गया। दूसरी बात यह है कि जैसे एक ही फिल्म बीसों जगह एक साथ दिखाई जा सकती है वैसे नाटक या सर्कस नहीं दिखाये जा सकते। गरीब लोग जहाँ नाटक को महीने भर में एक बार देखते हैं वहाँ सिनेमा को महीने भर में चार बार देख सकते हैं। उन्हें खर्च भी ज्यादा नहीं करना पड़ता। यदि सिनेमा के लिये अधिक भी करना पड़े तो लोग खुशी से करते हैं।

हमारे देश की आर्थिक दशा दिन पर दिन गिरती जा रही है। गरीबों को ठीक समय पर खाने को रोटी और पहनने को कपड़े नहीं मिलते; किन्तु सिनेमा घरों में बहुत बड़ी भीड़ जमा रहती है। इतना ही नहीं सिनेमा घरों में घुसने के लिये लड़ाई झगड़े और हुल्लड़बाज़ी भी कम नहीं होती। इससे स्पष्ट ज़ाहिर होता है कि हमारे यहाँ सिनेमा का शौक बेहद बढ़ता जा रहा है।

यह मानने में भी कोई आपत्ति नहीं कि जनता द्वारा पसन्द किये जाने के कारण

सिनेमा का व्यवसाय बहुत उन्नति पर है। यदि हम इस व्यवसाय का अच्छा उपयोग करें तो इससे देश का हित भी हो सकता है। किन्तु इसके लिये हमें अपनी रुचि का परिमार्जन करना पड़ेगा। यूरोप के वैभवशाली देशों की बात छोड़ दीजिये; जहाँ सिनेमा का बहुत प्रचार है। परन्तु वहाँ की और हमारे देश की फिल्मों में बहुत अन्तर है क्योंकि उनकी और हमारी संस्कृति, रीति रिवाज़, चालचलन, आदर्श, धर्म-सम्बन्धी कल्पनाओं और वेशभूषा में अत्यन्त भिन्नता है। वैसे भी वहाँ की फिल्में शिक्षा एवं कलापूर्ण होती हैं और उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति करती हैं। परन्तु हमारे यहाँ तो बात ही दूसरी है। यहाँ न किसी को कला की चिन्ता है और न रुचि-परिमार्जन की। सिनेमा यहाँ पैसा पैदा करने का नया धन्धा हो गया है। यह विचार नहीं किया जाता कि इन फिल्मों का देश के नवयुवकों और नवयुवतियों पर क्या असर पड़ेगा? किसी तरह ज़ेब भरनी चाहिये, यही उद्देश मालिकों के सामने रहता है।

यह भी एक प्रश्न है कि क्या सिनेमा क्षेत्र में कुलीन घराने की महिलाएँ भाग ले सकती हैं? मैं पहले ही कह चुकी हूँ कि हमारे यहाँ सुरुचि का बहुत ही कम ध्यान रखा जाता है। कला और शिक्षा की दृष्टि से बहुत कम फिल्में अच्छी होती हैं। अधिकतर फिल्में वासना-प्रधान होती हैं जिन्हें देखकर नवयुवक और नवयुवतियाँ यही सीखते हैं कि किस प्रकार के बाल बनाने चाहिये, कैसी वेशभूषा से स्वयं को सजाना चाहिये, कैसे हाव-भाव करने चाहिये जिससे दूसरे लोग उन्हें पसन्द करें। मैं पूछना चाहती हूँ कि इसके सिवा क्या देश को और किसी बात की ज़रूरत नहीं है? और इन तस्वीरों को पिता–पुत्र, भाई–बहन साथ–साथ देखते हैं!

आज की फिल्मों में अधिकतर एक ही बात देखने को मिलती है। एक नायक रहता है और एक नायिका। दोनों एक दूसरे से मिलने के लिये तड़पते हैं। अनेक प्रकार के कष्ट उठाते हैं। अन्त में दोनों का मिलन हो जाता है। बस, खेल ख़तम। इसी बात को लेकर अनेक 'प्लाट' बनाये जाते हैं। लोगों के दिल बहलाने के लिये नंगे नाच भी होते हैं। संसार में वासनामय प्रेम के सिवा, मनुष्य का और भी कुछ कर्तव्य है या नहीं;—इस बात को कितने आदमी समझते हैं? पिता–पुत्र, भाई-बहिन गुरु–शिष्य में तथा देश और समाज के प्रति क्या उच्च प्रेम-भावना का विकास नहीं हो सकता? क्या इन बातों को सामने रखकर ऊँचे दर्ज़े की फिल्में नहीं बन सकतीं? किन्तु इसमें दोष किसी का नहीं है। गुलामों की मनोवृत्ति उन्हें हमेशा पतन की ओर

ही ले जाती है। सिनेमा के डायरेक्टर्स भी यही कहते हैं कि हमें और बातों से कोई मतलब नहीं; हम जनता के लिये जनता की ही रुचि के अनुसार फिल्में बनाते हैं। यदि डाइरेक्टर्स उत्तरदायित्व समझकर आदर्श और सुरुचिपूर्ण चित्र जनता के सामने रखें तो धीरे-धीरे रद्दी फिल्मों के अभाव में जनता अच्छी फिल्में देखने लगेगी और उसकी रुचि में परिवर्तन भी होगा। जबतक फिल्म-निर्माताओं की रुचि में कोई परिवर्तन नहीं होता तबतक कोई भी कुलीन स्त्री सिनेमा में भाग लेकर कला के नाम पर अपनी पवित्रता की हत्या करना पसन्द न करेगी। पानी में प्रवेश करके भी गीला न होना आसान बात नहीं। भारतीय सभ्यता में तो पति-पत्नी भी किसी के सामने अमर्यादित बर्ताव नहीं कर सकते। कला के लिये भी महान साधना की ज़रूरत है। अतः स्पष्ट है कि हर एक आदमी इस रास्ते पर नहीं चल सकता। यदि वह झूठा प्रयत्न करेगा तो गिर पड़ेगा।

हिन्दी साहित्य और स्त्रियाँ

प्राचीन हिन्दी साहित्य को यद्यपि मीरा, सहजो जैसी देवियों की वाणी के मधुर रस ने सिंचित किया था तथापि पीछे अपनी सामाजिक अधोगति के साथ स्त्रियाँ साहित्य-क्षेत्र में भी बहुत पिछड़ गईं। आज फिर वे हिन्दीसाहित्य में ऊँचा स्थान प्राप्त कर रही हैं यद्यपि उनका ध्यान अभी सन्तोषजनक मात्रा में इधर आकृष्ट नहीं हो पाया है। हो भी कैसे, जब कि उनका शिक्षण ही दूषित और अपूर्ण है। पहले तो लोग स्त्रियों को शिक्षण देने के ही विरुद्ध हैं। वे स्वयं ही नहीं पढ़ते लिखते तो स्त्रियों को क्या पढ़ावेंगे। दूसरे जो लोग शिक्षित हैं वे पहले वालों से एकदम उल्टी दिशा में बढ़ रहे हैं। वे समझते हैं कि ज्ञान का भण्डार अंग्रेजी में ही है। वे अपनी स्त्रियों और लड़कियों को केवल अंगरेजी की ऊँची से ऊँची शिक्षा देना चाहते हैं। फिर वे कैसे समझें कि भारतीय छात्र के शिक्षण में हिन्दी का क्या महत्व है और धन बरबाद करने के बाद भी कितनी स्त्रियाँ अंग्रेजी साहित्य में स्थान पाने योग्य बनती हैं? यदि हमारे नेता चाहें तो वे स्त्रियों को इस दुर्गति से बचा सकते हैं क्योंकि अधिकतर हमारे नेताओं के ही मन पर अँगरेजी साहित्य का रँग चढ़ा हुआ है। फिर भी स्त्रियों ने अनेकों प्रतिबन्ध होते हुए भी हिन्दी साहित्य में अच्छा स्थान प्राप्त कर रखा है। वे पुरुषों की टक्कर का साहित्य लिखती हैं। स्त्रियों को यदि पुरुषों के समान पढ़ाया जाय और वह भी अपना साहित्य, तो वे आश्चर्यजनक उन्नति कर सकती हैं।

आज ऐसी अनेकों स्त्रियाँ हैं जिन्होंने साहित्य में पुरुषों के समकक्ष स्थान पा रखा है। श्री. महादेवी वर्म्मा का स्थान हिन्दी साहित्य में बहुत ऊँचा है। सुभद्रादेवी चौहान को कौन नहीं जानता? श्री कमलादेवी चौधरी, श्री यशोदादेवी, श्री शिवरानी देवी, श्री तेजरानी, श्री उषादेवी श्री सुमित्राकुमारी, श्री. तोरनदेवी, श्री विद्यावती, श्री रतना-

कुमारी आदि अनेकों महिलाओं ने हिन्दीसाहित्य के भण्डार को अपनी सत्कृतियों से समृद्ध किया है।

सच पूछिये तो साहित्य को उज्वल बनानेवाली स्त्रियाँ ही हैं। सर्वप्रथम हिन्दी काव्य के वीरगाथा काल की ओर दृष्टि उठायें तो देखेंगे कि पृथ्वीराज रासो से यदि स्त्रियों को निकाल दिया जाय तो पृथ्वीराज आदि राजाओं की वीरता शून्यप्राय हो जाती है। भक्तिकाल में भी सूर तुलसी के समान महान् भक्त कवि स्त्रियों की प्रेरणा से ही साहित्य को इस दर्जे तक पहुँचा सके। रीतिकाल की तो प्राण ही स्त्रियाँ हैं। यहाँ तक कि मुसलमान स्त्रियों पर भी राधाकृष्ण का रँग चढ़े बिना न रहा। काव्य की उपकरण बनकर बदनामी का दुपट्टा स्त्रियों ने स्वयं अपने गले बाँधा किन्तु काव्य को विभूषित ही किया। वर्तमान समय में स्त्रियाँ कविता, गीतिकाव्य उपन्यासों और कहानियों के क्षेत्र में आगे दिखाई देती हैं और ये ही क्षेत्र उनके जीवन के नज़दीक के हैं। यों तो स्त्रियाँ स्वभावतः गुनगुनाती रहती हैं। घर का काम करते समय अक्सर स्त्रियों को देखा जाता है कि वे धीरे-धीरे कोई न कोई राग अलापा करती हैं। इसलिये उनका गीति-काव्य लिखना स्वाभाविक है। श्री महादेवी वर्मा ने तो अपने प्रियतम के विरह में राशि-राशि आँसू बहाये हैं। उनकी सभी कविताएँ मधुर वेदना में डूबी हुई, किन्तु युग को प्रकाश देनेवाली और आशापूर्ण हैं। हृदय झूम उठता है। बात भी सत्य है। उनकी कविता हृदय से ही निकली है। तर्क का वहाँ काम नहीं। श्री सुभद्रा-कुमारी चौहान ने राष्ट्रीय जागृति का सन्देश दिया है। इनकी कविताएँ भी जोश भरने वाली और देश-हित का पाठ पढ़ाने वाली हैं। श्री रामेश्वरी देवी चकोरी, विद्यावती कोकिल, पुरुषार्थवती, होमवती, तारादेवी पांडेय, सत्यवती मल्लिक, रतनकुमारीजी, उषादेवी मित्रा, सुमित्राकुमारी सिनहा आदि कितनी ही देवियां अपनी मधुर अनुभूति में सुन्दर चीज़ें लिखती हैं। न केवल काव्य अपितु कहानी क्षेत्र में भी स्त्रियों ने अच्छी सेवा की है। कहानी क्षेत्र से वास्तव में स्त्रियों का बहुत निकटस्थ सम्बन्ध है।

जीवन स्वयं ही एक कहानी है। छोटा बालक दिन भर खेलता रहता है फिर भी उसे यह स्मरण बना रहता है कि रात को दादीजी व अम्माजी ने कितनी सुन्दर कहानी सुनाई थी। वह कहानी सुनने के लिये रात की प्रतीक्षा में आतुर रहता है। कहानियों की जननी स्त्रियाँ ही हैं। स्त्री कहानी लेखिकाओं को यह भी गौरव है कि उनकी कलम से युग का सुन्दर चित्र उतरा है। उनकी

कहानियाँ हिन्दी साहित्य में काफ़ी सम्मान पा चुकी हैं। श्री दिनेश नन्दनी चोरड्या एवं श्री सत्यवती मल्लिक द्वारा जिस गद्य-काव्य का निर्माण हो रहा है वह कविता के आवश्यक बन्धनों से रहित होने पर भी, प्रवाह और माधुर्य लिये हुए है। उपन्यास क्षेत्र में स्त्रियों ने विशेष उल्लेखनीय कार्य नहीं किया है। फिर भी श्री तेजरानी पाठक का "हृदय का कांटा", श्री ज्योतिर्मयी ठाकुर का "मधुबन" सुन्दर बन पड़ा है। यदि स्त्रियाँ इस ओर ध्यान दें तो उन्हें अवश्य सफलता मिले। नाटक के क्षेत्र में तो स्त्रियाँ नहीं आ सकीं। इसका कारण स्पष्ट है। हमारे यहाँ नाटकीय वस्तुओं को जानने की सुविधा ही कहाँ है। स्त्रियाँ रंगमंच से बिलकुल अनभिज्ञ रहती हैं। आजकल तो फिर भी कुछ लड़कियाँ स्कूलों में तीसरे दर्ज़े के रंगमंच से परिचित हो जाती हैं। नाटक में तनिक सी भी कमज़ोरी खटकती है। नाटक लिखने के लिये नाटकीय नियमों से भली प्रकार परिचित होना चाहिये। निबन्ध-साहित्य में भी स्त्रियों ने उल्लेखनीय सहयोग नहीं दिया है। तो भी उनके लेख अनेक सामयिक विषयों पर समय-समय पर निकला करते हैं।

समालोचना, साहित्य को उज्वल बनानेवाला साबुन है। जिस साहित्य में समालोचना करने वाले विद्वान निष्पक्ष अधिक होंगे वह साहित्य उतना ही अधिक दिव्य होगा। हिन्दी के आलोचना क्षेत्र में कोई विशेष नारी-प्रतिभा दृष्टिगोचर नहीं हुई। अन्य विषयों में श्री चन्द्रावती लखनपाल ने 'स्त्रियों की स्थिति' 'शिक्षा मनोविज्ञान' ऐसी उच्च कोटि की पुस्तकें लिखकर इस दिशा में बहुत ही सराहनीय कार्य किया है। श्री महादेवी वर्मा के 'अतीत के चलचित्र' और 'श्रृंखला की कड़ियाँ' भी उच्चकोटि के गद्य के सुन्दर नमूने हैं।

वर्तमान समय में स्त्रियों की दशा शोचनीय है। आज की नारी प्राचीन नारी की परम्परा में नहीं जान पड़ती। वह अत्यन्त भीरु और डरपोंक है। प्राचीन इतिहास के इतना उज्वल होने पर भी आज उसमें स्त्रियों का अपना दीप्त व्यक्तित्व नहीं है। वे दासता में ही अपने कर्तव्यों की इतिश्री समझती हैं। अपने को दास समझना सबसे बड़ा पाप है। यह क्रान्ति का युग है। हमें पहिले ध्वंस और फिर निर्माण करना पड़ेगा। हमारी धार्मिक और सामाजिक व्यवस्थाएँ प्रौढ़ावस्था में बाल्यकाल के वस्त्रों के समान अनुपयुक्त हैं, परन्तु हम यही निर्णय नहीं कर पाते कि वस्त्रों का विकास शरीर के अनुसार होता है या शरीर का विकास वस्त्रों के अनुसार। जीवन वेगवती सरिता के समान आगे

बढ़ना जानता है; पीछे लौटना नहीं। लेकिन हमारा समाज जीवन-नैया को उलटा बहाना चाहता है। मनुष्य को चाहिये कि वह देश-काल के अनुसार स्वयं उन्नति के मार्ग पर अग्रसर रहे। ऐसा करने पर ही वह अपनी और समाज की पूर्ण उन्नति कर सकेगा। वर्तमान समय में स्त्रियों को शिक्षित होकर कार्यक्षेत्र में उतरने की बहुत आवश्यकता है। जब तक स्त्रियाँ शिक्षण, श्रम और चरित्र द्वारा देश-काल के महत्व को नहीं समझतीं तब तक उनकी और समाज की उन्नति होना सम्भव नहीं।

माता का उत्तरदायित्व

माताएँ समझती हैं कि बच्चों को खिलाना पिलाना, पहिनाना, सुलाना, बीमार होने पर चिकित्सा करवाना, बस हो गया हमारा कर्तव्य पूरा। अधिक हुआ और पिता ने बच्चे को स्कूल नहीं भेजा तो माता किसी स्कूल में बच्चे को भेज देती है। बस अब कोई काम नहीं बचा। किन्तु जन्म लेना, खाना, पीना, सोना, बीमार होना, अच्छा होना यह सब प्राकृतिक नियम हैं। इन प्राकृतिक नियमों में बहिनें अपनी अज्ञानता के कारण बाधा डालती हैं। उनकी आवश्यकता को न समझकर तनिक रोने पर असमय में ही दूध पिलाना, निद्रा में विघ्न डालना, स्वच्छ न रखना, अगट शगट दवाएँ देना ये बातें प्राकृतिक नियमों के बाहर हैं। पालन-पोषण के अतिरिक्त माता-पिता की जवाबदारी है, बच्चे को सुसंस्कृत, सुशिक्षित बनाने की। शिक्षा की दृष्टि से कुछ माता पिता इतने सावधान रहते हैं कि चार ही वर्ष की उम्र में बच्चे को स्कूल भेज देते हैं। स्कूल में पढ़ाई का क्या ढँग है, बच्चों के बैठने उठने के लिये क्या व्यवस्था है, इतने छोटे बच्चे को किस प्रकार से, किस पद्धति से शिक्षा देनी चाहिये इसका विचार करने, इस विषय का साहित्य पढ़ने के लिये माता पिता के पास रुचि और समझ नहीं रहती। बच्चे को छः या सात वर्ष की अवस्था से कम में स्कूल बिलकुल न भेजना चाहिये। किन्तु अत्यधिक ध्यान देने की बात तो संगति, और वातावरण है। प्रथम अवस्था में बड़ी से बड़ी संगति, वातावरण, घर तथा माँ की गोद है। माता पिता के विचारों का और बाहर के वातावरण का जो प्रभाव बच्चों पर पड़ता है, वह स्कूलों में अनेक परीक्षायें पास कर लेने पर भी पड़ना कठिन है। एक छोटासा उदाहरण देखिये। जो लोग कभी पैर नहीं दबवाते उनके पैर भी कभी नहीं दुखते किन्तु तजुर्बा करने के लिये रात को सोते वक्त तीन चार दिन पैर दबवाइये, पाँचवें दिन बिना पैर दबवाये नींद आना मुश्किल हो जायगा। मनुष्य में

ऐसी अनेकों आदतें रहती हैं जिनसे कष्ट होता है। और बचपन की आदतें तो बच्चों में घर बना लेती हैं। जन्म से पाँच वर्ष के भीतर बच्चे में जो आदतें पड़ जायेंगी वे जीवन भर उसका साथ सरलता से नहीं छोड़ेंगी और इसकी जवाबदारी माता पर रहेगी।

मेरे विचार से पतिव्रता पत्नी होना सरल है किन्तु आदर्श माता बनना कठिन है। हमारे यहाँ स्त्रियों के लिये पतिव्रत धर्म सर्वश्रेष्ठ धर्म कहा गया है। पतिव्रताओं के सामने बड़े-बड़े देवता और शक्तियाँ भी हार मान जाती हैं। किन्तु आदर्श माता के सामने बड़ी-बड़ी पतिव्रताओं को हार खानी पड़ेगी। पतिव्रता होना तो आदर्श माता का कर्त्तव्य अथवा एक अंग है। बच्चा कैसा होना चाहिये इसकी कल्पना तो माता को गर्भ धारण के पहिले ही से बना लेनी होगी। अपने अन्दर की सभी कमज़ोरियों को ढूँढ–ढूँढ कर, खींच-खींच कर बाहर कर देना चाहिये। शरीर जितना स्वच्छ, शुद्ध और नीरोग होगा बच्चे के स्नायु उतने ही दृढ़ होंगे।

पाँच घन्टे बच्चा स्कूल में रहता है और बाकी समय माता की देख-रेख में। यह समझना कि बच्चा स्कूल में ही पढ़ लिखकर होशियार हो जायगा भूल होगी। बच्चे अथवा बड़े सभी के दिल पर क्रियात्मक वातावरण का जो असर पड़ेगा वह पुस्तकों में पढ़े हुए आदर्श का नहीं। स्कूल में अध्यापक कैसे हैं? बच्चे कैसे हैं? जिनकी संगति में बच्चे को अपना भविष्य बनाने के लिये प्रति दिन पाँच घण्टे रहना पड़ता है इस ओर भी माता–पिता को ध्यान देना आवश्यक है। स्कूल के बाहर निकलने के बाद बच्चा कहाँ रहता है, बच्चा क्या करता है इसकी जवाबदारी माता और पिता ही पर है। पाँच वर्ष की अवस्था तक बच्चों का अधिकतर समय मातापिता के निकट ही बीतता है। वह चार महीने की अवस्था से ही मातापिता की नकल करने की प्रवृत्ति ग्रहण कर लेता है। वह माता की भाषा में बोलने की चेष्टा करता है। धीरे–धीरे उसी लहज़े में बोलना सीख लेता है। यदि बच्चे का अधिक समय दाई और नौकरों के पास जायगा तो वह उनसे भी बहुत सीखेगा। अतः बच्चे को माता पिता से उचित प्यार मिलना चाहिये ताकि उसकी श्रद्धा उन पर जम सके। बच्चे की श्रद्धा जिस पर अधिक जमेगी उसीका अनुकरण वह करेगा। बचा देखता है कि डाक्टर का आदर सभी घर वाले करते हैं। वह अपटुडेट ड्रेस में एक खास लहज़े के साथ आता है। बीमार के पलंग के पास बैठकर उसका हाथ देखता है। दवा देता है। बचे के कोमल हृदय पर यह चित्र अंकित हो जाता है। वह भी बड़े उत्साह से अकड़कर चलता है और किसी लेटे हुए

घर वाले का हाथ अपने हाथ में लेकर उछलता हुआ कहता है "दाई जी मैं डाक्टर बन गया।"

अनुकरण करने की प्रवृत्ति मनुष्यों में ही नहीं, पशुओं तक में होती है। एक कौवा बोलता है कि दूसरे अनेक कौवे काँव काँव करके कान के परदे ढीले कर देते हैं। कुत्तों का भूँकना, गीदड़ का बोलना तो सभी जानते हैं। किसी को खेलते देखते हैं, तैरते देखते हैं, सिनेमा जाते देखते हैं, तो स्वाभाविक ही दिल वैसा करने के लिये उत्सुक हो उठता है। यह सब तो है प्रत्यक्ष अनुकरण किन्तु अप्रत्यक्ष अनुकरण अधिक ध्यान देने योग्य होता है।

किसी सभा में बैठे हुए मनुष्य को जँभाई लेते देखिये तो आसपास के कई मनुष्यों को जँभाई आ जायगी। माता-पिता, नौकर-चाकर, शिक्षक आदि के छोटे-छोटे व्यवहार, यहाँ तक कि भाव भी बच्चे से छिपे नहीं रहते। यदि माता में किसी विशेष रूप से स्वार्थ-साधन करने की आदत होगी तो बच्चा प्रत्यक्ष रूप में उस आदत को ग़लत रूप में पकड़ लेगा। माता-पिता का हृदय जैसा बाहर हो वैसा ही अन्दर होना चाहिये। दिखाने के लिये कोई उच्च काम करना और वास्तव में वैसा न रहना भी बच्चे पर अच्छा असर नहीं डालता; जैसे दिखाने के लिये खादी पहिनना और छिपे-छिपे विदेशी भी पहिन लेना। कई स्त्रियाँ कहती हैं कि हम रोज चर्खा कातती हैं किन्तु कातती नहीं। बच्चा यह समझ लेता है। धोखा देना, झूठ बोलना, चोरी करना आदि गुण बच्चे पर इसी प्रकार अप्रत्यक्ष रूप में अपना असर डाल देते हैं।

हर्बर्ट स्पेंसर का कहना है कि प्रत्येक व्यक्ति को बालमनोविज्ञान का अध्ययन भलीभाँति करना चाहिये। इसके ज्ञान बिना किसी भी माता-पिता का जीवन पूर्ण नहीं कहा जा सकता। बाल मनोविज्ञान काफ़ी मनोरञ्जक एवं सुरुचिपूर्ण विषय है। इसके अध्ययन की उपेक्षा विषय को कठिन नहीं वरन सरल समझने के कारण ही होती है। अध्ययन इसका आवश्यक है। इससे इतना तो स्पष्ट ही है कि माता पर सन्तान की बहुत बड़ी जिम्मेदारी है जिसे उठाने के लिये माता को पूर्व तैयारी की आवश्यकता है।

हमारा नारी-समाज

(एक दृष्टि में)

संसार का इतिहास बतलाता है कि आवश्यकतानुसार प्रचलित रूढ़ियों, प्रथाओं और विश्वासों के स्थान पर समाज नये विश्वासों, धारणाओं और क्रियाओं को अपनाता है। वर्षों के सोये राष्ट्र जागते हैं, जागने वाले सोते हैं और एक नई शक्ति के लिये स्थान खाली करते हैं। नये प्रयत्न में नये व्यक्तित्व पनपते, गिरते, उठते, फिर गिरते और फिर उठकर खड़े होते हैं। परिवर्तन का यह क्रम न केवल मनुष्य जगत में अपितु सर्व प्राणियों में—नहीं नहीं–जड़ पदार्थों में भी देखा जाता है। राष्ट्र और समाज में अन्तर ही क्या है? उठा हुआ राष्ट्र भी समय के थपेड़े खाकर लड़खड़ा जाता है, गिरता है और फिर उठता है उठकर धीरे–धीरे वह फिर शक्ति–संचय करता है, अपनी अवस्था पर ग़ौर करता है, सम्हलता है। तब परीक्षा का समय आता है। दण्ड और पुरस्कार की घड़ी आती है। बलिदेवी खाली खप्पर ले आ पहुँचती है। प्रलोभन चारों ओर चक्कर काटने लगते हैं। कोई माया में फँस जाता है, कोई पद के पंक में। कुछ ही ऐसे माई के लाल होते हैं जो दृढ़तापूर्वक जुटे रहते हैं बन्धनों को काटने में, बिना इधर–उधर की परवाह किये। यही अवस्था आज भारतीय नारी की है। पुरुषों ने उसे दबाया है यह सच है किन्तु आज उषा वेला में भी स्वयं शिक्षित तथा कार्य करने की योग्यता रखने वाली महिलायें जितना चाहिये उतना इधर ध्यान नहीं देतीं।

इसमें सन्देह नहीं कि गत बीस वर्षों में नारी-आन्दोलन काफ़ी आगे बढ़ा है और स्त्रियों ने सामाजिक सुधार, लोक–सेवा, बौद्धिक चेतना आदि सभी क्षेत्रों में काफ़ी प्रगति की है। प्रत्येक क्षेत्र में भारत की महिलायें कम या अधिक संख्या में आगे आई हैं। फिर भी यह चेतना देश की भारी जनसंख्या को देखते हुए नगण्य है। सारी उन्नति,

सारी प्रगति अभी तक शहरों तक ही सीमित है और शहरों में भी एक विशेष वर्ग तक। साधारण श्रेणी की स्त्री आज भी पुरानी रूढ़ियों के जुए को उसी प्रकार नीचा सिर किये ढोती जा रही है। उसकी शिक्षा, सभ्यता की गाड़ी जहाँ की तहाँ ठप खड़ी है। उसकी विवशता, असहायता, आदि में कोई अन्तर नहीं आया है। सुधारक वर्ग द्वारा भी इस श्रेणी की थोड़ी उपेक्षा नहीं हुई और देश की अठारह उन्नीस करोड़ संख्या में ९८ प्रतिशत भाग इसी श्रेणी का है। शिक्षित वर्ग की महिलायें भी संगठित रूप में आगे बढ़ पायी हों सो बात नहीं है। हमारी बीस वर्ष पहले की और आज की समस्याओं में विशेष अन्तर नहीं आ पाया है इसलिये यदि हम यहाँ भारतीय नारी की मुख्य-मुख्य समस्याओं पर अलग-अलग विचार करें तो अप्रासंगिक न होगा।

शिक्षा—

हमारी अनेक समस्याओं में शिक्षण का स्थान मुख्य है। प्राचीन आधुनिक शिक्षण के आदर्शों और अध्ययन की शाखाओं में बड़ा अन्तर हो गया है। हमारा प्राचीन–शिक्षा का आदर्श था 'निःश्रेयस-प्राप्ति'। उस समय जीवन भी आज जैसा जटिल न था। वैज्ञानिक उन्नति ने जीवन की जटिलता नग्न रूप में हमारे सम्मुख उपस्थित कर दी है। आज हम जगत की ओर से आँख नहीं बन्द कर सकते। इसलिये जीवन और उसकी निर्मात्री शिक्षा का लक्ष्य हो गया है विश्व की सर्वांगीण प्रगति में सहायक बनना। इसीलिये आज अध्ययन का क्षेत्र बड़ा विस्तृत हो गया है। ज्ञान पिण्ड से लेकर ब्रह्माण्ड तक के अणु-अणु के रहस्य को उद्घाटित करने में संलग्न है। केवल विद्वान कहकर आज हम किसी का पूरा परिचय नहीं दे सकते। किस विषय का विद्वान, यह प्रश्न तुरन्त सामने आयेगा। फिर वे विषय भी 'बहुशाखा ह्यनन्ताश्च' ही समझिये।

अध्ययन के विषयों में इतना विस्तार होने तथा उसके आदर्श में परिवर्तन होने का जो मधुर परिणाम होना चाहिये था वह न होकर ठीक उसके विपरीत हुआ है। कौन नहीं जानता कि मानवता की उपासना का डिंडिम घोष करनेवाले स्वयं पशुता के नग्न नृत्य का दृश्य उपस्थित कर रहे हैं। सारा संसार अशान्त है। जन-जन को, देश-देश को अपनी सुख-सुविधा, धन-दौलत, सीमा वृद्धि, प्रभुत्व आदि की चिन्ता लगी हुई है। अब भी वर्तमान शिक्षण का परिणाम बतलाने की आवश्यकता है? भारत का शिक्षण तो और भी निकम्मा है। वैज्ञानिक, औद्योगिक शिक्षण का तो यहाँ सर्वथा अभाव है ही; जिन विषयों का शिक्षण दिया भी जाता है वे जीवन में उपयोगी नहीं सिद्ध हो पाते।

बेहद खर्चीलापन, स्वावलम्बन, क्रियाशीलता, क्रियाशक्ति और साहस का अभाव लिये हुए यह शिक्षण युवकों को बर्बाद करनेवाला सिद्ध हुआ है। जब वर्तमान शिक्षा से पुरुषों का ही अहित हुआ है, तब वह स्त्रियों के लिये कहाँ तक लाभकर हो सकता है ? शिक्षा वही होना चाहिये जिससे मस्तिष्क का विकास हो, भले बुरे की पहिचान हो, हृदय का विस्तार हो, और जो जीवन की कठिनाइयों में काम दे सके। केवल कुछ पुस्तकों के रट लेने से और इधर-उधर की थोड़ीसी जानकारी प्राप्त कर लेने से ही कोई शिक्षित नहीं हो जाता। जो जीवन में हर जगह ठोकर खाता है, बुरी तरह गिरता है विचारों की उच्छृंखलता के साथ बह जाता है, क्या उसे हम शिक्षित कह सकते हैं ?

स्त्री और पुरुष को प्रारम्भिक शिक्षा के बाद अपने-अपने क्षेत्र की शिक्षा लेना चाहिये और वह भी उच्च आदर्शों के साथ। मैं देखती हूँ प्रायः शिक्षित लड़कियों को व्यर्थ का अहंकार, अभिमान हो जाता है। यह शिक्षा का दोष है और इसीलिये कुछ लोग उच्च शिक्षा दिलाना पसन्द नहीं करते। मैंने कई बहिनों से सुना है—'देखिये मैं तो पढ़ी लिखी नहीं हूँ। ऐसा न हो कि पढ़ी लिखी बहन आकर मेरे कान खींचे।' विचार कर देखें तो यह सन्देह ग़लत नहीं है। शिक्षण काल में लड़कियों को गार्हस्थ्य जीवन की शिक्षा दी ही नहीं जाती। उदारता, सहनशीलता, सेवा, त्याग, संयम, चतुरता, व्याव-हारिकता, परोपकार, सन्तान-पालन, घर की सफ़ाई और सजाना, रसोई, कपड़े धुलाई अनाज की सफाई और व्यवस्था, स्नानघर, पेशाबघर, पाखाने की सफाई, गोपालन, बागवानी, कमखर्ची आदि का शिक्षण हरएक गृहिणी के लिये आवश्यक है। ऐसी बहू को पाकर कौन अपना भाग्य न सराहेगा ? जिन लड़कियों को शादी करके गृहस्थ जीवन सुखमय बनाना हो उन्हें उपर्युक्त सभी प्रकार का ज्ञान पूर्णतया प्राप्त करना चाहिये; केवल पुस्तकों से ही नहीं, क्रियात्मक भी। घरों में ही नहीं स्कूलों में भी इस प्रकार की शिक्षा की यथोचित व्यवस्था होनी चाहिये।

सन्तानपालन का महान और अत्यन्त कठिन कार्य स्त्रियाँ जितनी दक्षता से कर सकती हैं, पुरुष नहीं। किन्तु सारी बुराई तो इसी जगह है कि स्त्रियों के कार्य हीनदृष्टि से देखे जाते हैं। न स्त्रियों के लिये उनके विषयों की उच्च शिक्षा ही की व्यवस्था की गई है और न किसी प्रकार की प्रतिष्ठा ही उनके कार्यों को प्राप्त हुई है। खैर ! समय बहुत आगे बढ़ गया है। अब तो स्त्रियों को घर के ही समान बाहरी ज्ञान भी होना अत्यन्त आवश्यक है। बिना बाहरी ज्ञान के वे योग्य गृहिणी और

योग्य माता नहीं हो सकतीं।

जो स्त्रियाँ गृहस्थी से "रिटायर" हो गई हैं अथवा विधवा हैं या विवाह नहीं करना चाहतीं उन्हें डाक्टरी, नर्सिंग, अध्यापन, सामाजिक और राजनैतिक क्षेत्र में भाग लेने का पूरा अधिकार होना ही चाहिये।

अब तक कुछ लोगों का यह ख्याल था कि स्त्रियाँ वैज्ञानिक विषयों में पुरुषों के समान सफलता नहीं प्राप्त कर सकतीं, पर ऐसी बात नहीं है। रसायनशास्त्र बनस्पति शास्त्र आदि में आज अनेकों भारतीय महिलाओं ने अच्छी प्रगति की है। हर प्रकार का ज्ञान प्राप्त करने की उत्कण्ठा और योग्यता आज की महिलाओं में है, किन्तु जिन स्त्रियों को जिस दिशा में, जिस क्षेत्र में काम करना हो, उन्हें उसकी जानकारी विशेष रूप से प्राप्त करना चाहिये।

शिक्षण के अनेक विषय हैं और सभी को सीखने के लिये काफ़ी समय तथा काफ़ी शक्ति लगानी पड़ती है किन्तु गृहिणी धर्म को सीखने के लिये माता की, जवाबदारी संभालने के लिये हमारे शिक्षण में जो स्थान है, वह नहीं के बराबर है। यद्यपि यह सत्य है कि समाज का कल्याण जितना मातृत्व के सुधार पर निर्भर है उतना जीवन के दूसरे किसी विषय पर नहीं। संगीत का कोर्स तीन चार साल से कम नहीं, इसी प्रकार नृत्य, सिलाई, ड्राइंग, भूगोल, इतिहास, गणित, अर्थशास्त्र आदि अनेक विषय हैं जिनमें हम खोपड़ी पचा-पचाकर थक जाते हैं, किन्तु चालीस करोड़ हिन्दुस्थानियों में दस पाँच लाख भी ऐसे शिक्षित नहीं हैं जिन्हें शिशु-पालन का ठीक ज्ञान हो।

आज हमारे बच्चे उसी तरह पल रहे हैं जिस तरह जंगल में घासपात अपने आप बढ़ते, पनपते और सूखते हैं। हम बगीचे के पौधों को सँवारने के लिये अच्छा माली तलाश करने की जरूरत का तो अनुभव कर पाते हैं पर राष्ट्र के प्राण सजीव पौधों को सँवारने सुधारने की ओर हमारा और हमारी सरकार का कितना ध्यान जाता है? तीन वर्ष की आयु तक तो सारा उत्तरदायित्व माता पर रहता है इसलिये शिशुपालन नारी के शिक्षण में सब से महत्वपूर्ण विषय माना जाना चाहिये।

हमारे यहाँ एक और समस्या है सहशिक्षण की। इससे तो सभी सहमत होंगे कि प्रारम्भिक कक्षाओं में सहशिक्षण न केवल हानिरहित है अपितु बालक के स्वाभाविक मानसिक विकास के लिये आवश्यक भी है। भाई-बहन के पवित्र सम्बन्ध का विकास इसी स्थान पर होना सम्भव है। उच्च कक्षाओं में विषयों के अन्तर से सहशिक्षण को हम

अस्वीकार नहीं कर सकते यदि हमें स्त्रियों को पुरुषों के साथ एक प्लेटफार्म पर लाना है। मशीनें बनाने, उन्हें सम्हालने, वायुयान, मोटर चलाने, तैरने, दौड़ने तथा अन्य शारीरिक कार्य करने, घायलों की मरहमपट्टी करने, शासनसभाओं, रेल, तार, डाक आदि के दफ्तरों के कार्य ऐसे तो नहीं हैं कि वे पुरुषों की नज़र बचाकर घर के भीतर से किये जा सकें। अधिक अंशों में इस प्रकार की घबराहट हमारी मानसिक दुर्बलता और नैतिकता के दुर्बल आदर्शों की ही परिचायक है। और यदि स्त्रियों को सार्वजनिक कार्यों में आगे आना है तो उन्हें सहशिक्षा का भय छोड़ना होगा। इसका कोई अर्थ नहीं कि हम व्यवस्थापिका सभाओं में जायँ और वहाँ पर्दा डलवाकर बैठें जैसा कि भारत के एक प्रान्त में हुआ था।

शिक्षा के क्षेत्र में अभी स्त्री शिक्षिकाओं की बड़ी आवश्यकता है। प्रारम्भिक कक्षाओं में तो यथा सम्भव स्त्रियों को ही शिक्षिका होना चाहिये। आगे भी यदि पर्याप्त संख्या में महिलायें अध्यापिका मिल सकीं तो सहशिक्षा की भयंकरता रूढ़िवादियों की भी दृष्टि में कम हो जायगी।

परदा—

सामाजिक दासता राजनीतिक गुलामी से कम खतरनाक नहीं है। राजनीतिक स्वतन्त्रता मिलने पर भी यदि हम सामाजिक रूढ़ियों से ग्रस्त रहे तो हमारी उन्नति की आशा निराशा में परिणत हो जायगी। ये रूढ़ियाँ आवश्यकता के समय उत्पन्न होती हैं किन्तु आगे चलकर व्यर्थ ही जन साधारण की चिन्तनशक्ति को पंगु बनाये रखती हैं। स्त्रियों में प्रचलित रूढ़ियों में पर्दा मुख्य है। साधारणतया स्त्रियाँ इसका प्रयोग जानकर करती हों सो बात नहीं है। उनसे पूछा जाय तो यही कहेंगी, 'हमारे बड़े बूढ़े ऐसा करते आये हैं।' इस बड़े बूढ़ों जैसा करने की प्रवृत्ति ने हम में से साहस, अलग रास्ता निकालने की हिम्मत छीनकर हमें तेली का बैल बना दिया है। परदा बाहर वालों से कम और घर वालों से अधिक किया जाता है। मुसलमान स्त्रियों का पर्दा तो एक सीमा तक समझ में भी आ सकता है जो केवल बाहर वालों से किया जाता है, घर वालों से नहीं। वे सिर से पैर तक लबादे में लिपटीं दोनों आँखों तक को जाली से ढँककर चलते-फिरते टैण्ट का दृश्य उपस्थित कर सड़कों पर निकलती हैं। यू० पी०, पंजाब और बिहार में बुरके की जगह चादर लेती हैं। इन प्रान्तों में बाहर जाते समय इक्कों, ताँगों और बैल-गाड़ियों तक के चारों ओर पर्दा बाँध दिया जाता है। ओसवालों में तो स्त्रियाँ अपने से बड़ी स्त्रियों से भी परदा करती हैं। अग्रवाल स्त्रियाँ स्त्रियों से तो परदा नहीं करतीं पर

आगन्तुक का मुँह देखकर घूँघट निकालती हैं और इतना पतला कपड़ा मुँह पर डालती हैं कि सारा मुँह दिखाई देता है। पर्देवाली स्त्रियाँ एक आँख पर्दे से निकाल ताकती हैं। पीहर में पर्दा होता भी नहीं। ससुराल में होता है। इसका क्या अर्थ है? मुँह पर का यह पर्दा धीरे-धीरे हमारी बुद्धि पर पड़ गया है। आज इसके खिलाफ़ ज़बर्दस्त जहाद होना चाहिये। पुरुष यदि चेष्टा करें तो यह कुप्रथा बहुत जल्द दूर हो सकती है। वैसे शिक्षित स्त्रियों ने इस रिवाज़ को बहुत कुछ हटा भी दिया है पर इतने से क्या होता है? एक बात अवश्य स्मरण रखना चाहिये कि परदा-निवारण का अर्थ अविनय, अशिष्टता या उच्छृंखलता नहीं है।

वेशभूषा

थोड़े-थोड़े परिवर्तन के साथ भारत में अनेकों वेशभूषायें प्रचलित हैं। पहनने के ढँग, कपड़ों के नाम और बनावट सभी कुछ अलग। महाराष्ट्रियन बहनें १८ हाथ तक की गहरी रंगीन साड़ी पुरुषों के समान ही काछती हैं। गुजराती और मारवाड़ी बहनें १०, १२ हाथ की सफेद या हलके रँग की साड़ी पहनती हैं और अन्दर चड्डी और लहँगे। इन बहनों में घाघरे और ओढ़नी का भी रिवाज़ है। यू० पी०, बिहार में साड़ी पर चादर ओढ़ने की प्रथा है। यू० पी० के भी आधे भाग में लहँगे पहने जाते हैं। पंजाब की स्त्रियाँ सलवार और कुरते पर दो तीन हाथ की ओढ़नी ओढ़ती हैं। मदरास और बंगाल की साड़ियों की डिज़ाइनें और पहनने का ढँग बिलकुल अलग रहता है। ईसाई, पारसी और मुसलमानी पोशाक में भी अन्तर रहता है। केवल कपड़ों में ही नहीं, बालों की बनावट, बिन्दी लगाने एवं गहनों के गढ़ाव में भी अन्तर मिलेगा। फिर भी शिक्षित नागरिक स्त्रियों की वेशभूषा में धीरे-धीरे बहुत कुछ समानता आती जा रही है। पुरानी रूढ़ियों से चिपकी स्त्रियों में देश के अनेक भागों में अब भी भारी-भरकम घाघरे पहनने का रिवाज़ चालू है। ज़ेवरों के लिये साधारण स्थिति के घरों में बराबर कलह बनी रहती है। वास्तव में सौन्दर्य-साधन ज़ेवरों से नहीं होता और न चमकमटक लिये कपड़ों से। स्वास्थ्य, सौन्दर्य, कमखर्ची, शिष्टता और सफ़ाई का खयाल रखकर हमें अपनी वेशभूषा निश्चित करनी चाहिये; भले ही इसके लिये रूढ़ि का बलिदान करना पड़े।

विवाह

बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह, अनमेल-विवाह, पुरुषों को पुनर्विवाह का अधिकार देकर भी स्त्रियों को उससे वंचित रखना, बिना उभय पक्ष की स्वीकृति का विवाह इन

सब का जो परिणाम हो रहा है वह घर-घर में होने वाली कलह, स्त्रियों के अपहरण, भ्रूण हत्या, और वेश्याओं के बाज़ार के रूप में हमारे सामने स्पष्ट है। शारदा कानून पंगु है। उसका जनसाधारण पर कोई प्रभाव नहीं। अधिकांश कन्यायें गौरी, रोहिणी और कन्या के रूप में आज भी फाँसी के फन्दे पर लटकायी ही जा रही हैं। इन्हीं के साथ दहेज़ भी कोढ़ में खाज की तरह आ चिपका है। इसके परिणाम स्वरूप एक ओर तो बड़ी संख्या में कन्यायें बड़ी आयु तक कुँवारी रह जाती हैं और दूसरी ओर बेब्याहे लड़के माँ बाप को कोसा करते हैं। इस प्रथा ने इतनी गहरी जड़ जमाली है कि हजार व्याख्यानों, लेखों और जातीय सभाओं के प्रस्तावों का इस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ रहा है। बड़े-बड़े नेता और सुधारक मेज पर खड़े होकर लच्छेदार भाषा में भाषण झाड़ते हैं और मौका आने पर किसी बहाने का आश्रय लेकर कन्नी काट जाते हैं। बँगाल में, जहाँ दहेज़ की प्रथा अपनी सम्पूर्ण भीषणता के साथ वर्तमान है, इसका परिणाम देखा जा सकता है। विवाह सम्बन्धों में सारी अन्ध रीतियाँ उच्च वर्गों में ही विशेषकर प्रचलित हैं। सच पूछा जाय तो हमारे समाज की अधिकांश बुराइयों का सम्बन्ध विवाह-सम्बन्धी प्रथाओं से है। सम्भवत: हिन्दूसमाज ने प्रतिज्ञा कर ली है कि वह लड़के को चाही कन्या से कदापि विवाह न करने देगा। दहेज केवल लड़कियों से ही लिया जाता हो सो बात नहीं है। अनेक जातियों और स्थानों में जहाँ गोत्रादि के बन्धन के कारण कन्यायें प्राप्त करने में कठिनता होती है लड़के वालों को लड़की की कीमत चुकानी पड़ती है। असल में यह एक सौदा है जिसे गरज होती है, खरीदता है। भला नारी जाति का इससे अधिक अपमान क्या होगा ? इसी कारण कन्यायें माता पिता के लिये भार बन रही हैं। अनेक जातियों में वे जन्म के साथ ही मार दी जाती है और उपेक्षा तो उनकी सारे हिन्दू समाज में होती है। इस कुप्रथा के उच्छेद के लिये नवयुवकों और नवयुवतियों को साहसपूर्वक सामने आना चाहिये। प्रान्त और जाति के बन्धन, कम से कम उपजाति के बन्धन तो अब समाप्त हो जाने ही चाहिये। फिर भी नवयुवतियों को मर्यादा और शिष्टता का ध्यान तो रखना ही होगा।

धार्मिक विश्वास

शास्त्रों में धर्म की अनेकों परिभाषायें दी गयी हैं और उनकी तरह-तरह की व्याख्यायें की गयी हैं। फिर भी उन सबका समन्वय इस कथन में हो जाता है कि जिससे इस लोक और परलोक दोनों की प्राप्ति हो उसे धर्म कहते हैं। भावुकता और सुकुमार

वृत्तियों की आश्रय होने से स्त्रियों ने सर्वदा पुरुषों की अपेक्षा धर्ममार्ग का अधिक आश्रय लिया है। उदारता, परोपकार, पूजा, उपासना की परम्परा आज भी उन्हीं के द्वारा कायम है। किन्तु शिक्षा के अभाव से आज इस श्रद्धा का स्थान अन्ध विश्वास ने ले लिया है। सदियों की परवशता और शिक्षा की कमी ने जो अविवेकपूर्ण धार्मिक भावनायें पुरुषों में भर दीं उन्हें ही स्त्रियों ने भी धर्मसूत्र मानकर ग्रहण कर लिया है। उदाहरणार्थ भूतप्रेत पूजन और टोने-टोटकों को ले सकते हैं। इनके कारण छोटे छोटे बालकों में जो भय प्रविष्ट हो जाता है वह वृद्धावस्था तक निकाले नहीं निकलता। तंत्रयुग के ये ध्वंसावशेष अभी तक ग्रामीण समाज में अपना प्रभाव जमाये ही हुए हैं।

इसी प्रकार मूर्तिपूजन है। जिस भावना से मूर्तिपूजन का प्रारम्भ हुआ था वह अत्यन्त उच्च थी किन्तु उसका अत्यन्त विकृत रूप देखने में आता है। सबेरे उठकर टहलने निकलिये तो स्त्री कोई पीपल का चक्कर काट रही है, कोई बट की प्रदक्षिणा कर रही है, और कोई चौराहे पर पत्र-पुष्प-जल बिखेर रही है। इस प्रकार हम केवल उपहासास्पद ही बनते हैं। इसी प्रकार व्रत-उपवास हैं। स्वास्थ्य, संयम और मनोबल के लिये इससे अच्छी दूसरी चीज नहीं। व्रत करना और उसे निभाना ही मनुष्यता ही कसौटी है। किन्तु व्रत कैसा करना चाहिये, इसी पर बुद्धि की परख है। कोई भजन, पूजन, पठन, मनन का व्रत रखता है। कोई दुखियों की सेवा-सहायता का नियम करता है तो कोई शत्रु से बदला चुकाने की प्रतिज्ञा धारण करता है। भारतीय महिलायें जितने व्रत और उपवास करती हैं उतने शायद ही कोई अन्य करता हो किन्तु कहावत है कि 'सपूत हो तो एक ही बहुत है'। इसी प्रकार व्रत यदि चुना हुआ हो तो एक पर्याप्त है। किन्तु आज व्रत का अर्थ भूखे रहना ही रह गया है। यह भी कुछ बुरा नहीं है। पक्ष या सप्ताह में एक उपवास करने से शरीर की शुद्धि होती है। पाचन-शक्ति ठीक रहती है, मन भी शुद्ध रहता है।

हिन्दुओं के पर्वों और व्रतों के साथ कोई न कोई आख्यान जुड़ा हुआ है। अनेकों बहनें नवरात्र का व्रत रखती हैं पर कितनी बहनें दुर्गा के आख्यान से परिचित हैं और तदनुकूल आचरण करने का निश्चयकर उपवास रखती हैं? ऐसा ही होता तो चौबीसों घण्टे उन्हें पराश्रित न रहना पड़ता।

संस्कारों का स्थान भी धार्मिक प्रथाओं में हैं। हिन्दू धर्म-शास्त्रों में संस्कारों को बड़ा महत्व दिया गया है। चार संस्कार तो बालक के जन्म के साथ ही समाप्त हो जाते है। बाल्यावस्था में और भी कई संस्कार हैं किन्तु कितनी मातायें उनसे परिचित हैं? करना

तो दूर; बहुत कम बहनें ब्याह, जनेऊ को छोड़कर अन्य संस्कारों के नामों तक से परिचित रहती हैं। माता के इस अज्ञान का बालक पर क्या प्रभाव पड़ता है यह कहने की आवश्यकता नहीं। इसी अज्ञान के कारण वे अपना काफी धन दान-पुण्य के नाम पर इस तरह व्यय करती हैं जिससे केवल समाज के निकम्मे और दूषित अंग की ही वृद्धि होती है। पण्डों, पुजारियों, तीर्थों, भिखारियों, ज्योतिषियों के नाम पर जो दान-पुण्य होता है, वह और क्या है ?

रोना-गाना

दुख होता है, रोना आता है। खुशी होती है, हँसना-गाना स्वाभाविक है। इसे कोई रोक नहीं सकता। यह प्राकृतिक है किन्तु इसका स्वाँग करना हास्यास्पद है। गुजरात का जिस तरह गर्बा नृत्य प्रसिद्ध है उसी तरह रोना भी है। किसी बड़े-बूढ़े, अड़ोसी-पड़ोसी और नाकाम के मरने पर भी बिना दर्द उमड़े केवल प्रदर्शन के लिये छाती पीट-पीटकर रोने का क्या अर्थ है ? मारवाड़ी स्त्रियाँ भी जुलूस के रूप में झुण्ड बनाकर सड़कों पर रोती हुई निकलती है। लड़कियों के आने पर और विदा होते समय चिल्ला चिल्लाकर रोना भी इसी प्रकार स्वाँग लगता है। पंजाब में तो मृत्यु-शोक पूरे वर्ष भर मनाया जाता है। वहाँ कभी कभी तो हँसती खेलती स्त्रियाँ बाहर से किसी सम्बन्धी के आ जाने पर एकाएक चिल्ला पड़ती हैं। न जाने यह कैसा स्वागत है ? और मज़ा यह कि दो मिनट रोने के बाद फिर वे ही हँसी मज़ाक के दौर चलने लगते हैं। कई समाजों में तो ये रोने वाली भाड़े पर लायी जाती हैं। पुरुषों को ऐसा करते कोई नहीं देखता। आखिर रोने का सारा ठेका स्त्रियों ने ही क्यों अपने ऊपर ले रखा है ?

इसी प्रकार गाने का रिवाज़ हैं। इसके लिये स्त्रियाँ किराये पर मिल जाती हैं। जब जैसा मौका हो ये स्त्रियाँ उसी प्रकार के गीत गा देंगी। ये गीत, गीत रहते हैं या कहानी, कहा नहीं जा सकता। प्रायः गीत बातचीत के स्वर में चलते हैं,बिना ताल-स्वर के मनमाने ढंग से। खैर; घर में यह सहन भी किया जा सकता है। कहावत है 'अपना घर चाहे सो कर—पराया घर थूकने का डर' किन्तु सड़क तो न अपना घर है और न पराया। उसपर तो आदमी की तरह चलना चाहिये। जब ये स्त्रियाँ झुण्ड बना कर सड़क पर गाती हुई निकलती हैं तो इन्हें यह ध्यान नहीं रहता कि सड़क पर और भी किसी को चलना है। पीछे से आवाज आती है, ऐ बाई ! ऐ मारवाड़ी ! हटो, बाजू हो। तब शरद के बादल की तरह सारी स्त्रियाँ तितर बितर हो जाती हैं। ऐसा लगता है मानों कई दिनों से

बन्द गायें पींजड़े से बाहर निकली हों

हृदय में उठते हुए तूफान को दबाना जब शक्ति से बाहर हो जाता है तब वह बाहर निकल पड़ता है। कलाकार अपने इस तूफान को, उद्गारों को, यों ही नहीं बिखर जाने देता। वह उसे सँवारता है, सजाता है और माला में गुम्फित करता है। मनोयोग पूर्वक गुनगुनाता है। साधारण लोगों के हृदय में भी वे भाव तो रहते ही हैं किन्तु वे उन्हें यों ही बिखेर देते हैं। कलाकार के मुँह से निकले हुए वे उद्गार गान के रूप में अमर हो जाते हैं। ये अमरता के तत्व स्त्रियों के गीतों में कुछ कम मात्रा में नहीं रहते; किन्तु उनका उपयोग उनके सारे सौन्दर्य पर पानी फेर देता है।

साम्पत्तिक अधिकार

स्त्रियों की सारी अवमानना, सारे तिरस्कार और परवशता के मूल में उनकी आर्थिक दुर्बलता है। अर्थ आज समस्त विश्व पर शासन कर रहा है। धर्म, नियम, शिक्षा, सदाचार, मनुष्यता सब कुछ खुले बाज़ार बिक रही है। अर्थाभाव का फल है परावलम्बिता और हिन्दू-समाज में अर्थ पर स्त्री का कोई अधिकार न रहने से वह पिता, पति और पुत्र के हाथों की कठपुतली बनी रहती है। समाज-शास्त्र बतलाता है कि मनुष्य के खेती करने की अवस्था में आने से पूर्व परिवार पर स्त्री का ही शासन रहता था। उनके नाम से गोत्र चलता था। वैदिक युग में स्त्री समानाधिकारिणी रही। पीछे पिण्डदान में उसका अधिकार न रहने से श्राद्ध में सपिण्डों को ही स्थान मिलने के कारण उसे सम्पत्ति के अधिकारों से वंचित कर दिया गया। मुस्लिम सम्प्रदाय में आज भी स्त्री को साम्पत्तिक अधिकार प्राप्त है।

हिन्दू समाज में साधारण स्त्रियाँ कमाती हैं। अध्यापन, चिकित्सा आदि कार्य पढ़ी लिखी स्त्रियाँ कर रहीं हैं। कल कारखानों, खदानों तथा अन्य क्षेत्रों में भी काम करने वाली स्त्रियों की संख्या कम नहीं है। घास, लकड़ी बेचना, पापड़ बेलना, सीना-पिरोना, सलमा-सितारा लगाना आदि छोटे-मोटे काम गरीब परिवारों की स्त्रियाँ करती हैं और अपना तथा कुटुम्ब का पेट पालती हैं। पर क्या इस अपने कमाये धन पर भी उनका अधिकार रहता है? समाज और कानून दोनों ने उन्हें इस अधिकार से वंचित कर रखा है। इस अतिशय परमुखापेक्षिता ने आज स्त्रियों के चेहरे का तेज नष्ट कर दिया है। उनमें अपने पैरों खड़े रहने की शक्ति ही नहीं रह गई है। उन्हें बात-बात में पुरुषों का मुँह ताकना पड़ता है। आज महिलाओं की सारी कुरीतियों, सारी परवशताओं का अगर कोई इलाज है तो वह है उनका सम्पत्ति पर अधिकार।

कार्य क्षेत्र

समाज का जीवन स्त्री और पुरुष दोनों पर अवलम्बित है और स्त्री तथा पुरुष की उन्नति अवनति परस्पर एक दूसरे पर निर्भर है। फिर भी आज तक उन्नति की प्रत्येक दिशा में स्त्रियों के जितना पीछे रखा गया है उसे देखकर आश्चर्य होता है। रूस, चीन, अमेरिका, फ्रांस, इंगलैण्ड, जापान आदि प्रगतिशील राष्ट्रों में स्त्रियों के लगभग राजनीतिक, नागरिक आदि सभी अधिकार प्राप्त हैं और इसी का परिणाम है कि आज वे देश इतने शक्तिशाली हैं। बिना स्त्रियों की प्रेरणा के पुरुष में भी आधी शक्ति रह जाती है किन्तु स्त्रियों की प्रेरक शक्ति के केवल मोहक बना देने पर तो बेचारा पुरुषत्व घूँघट काढ़कर प्रेम के गीतों में अपने के डुबोने लगता है।

आज पुरुष अधिकार के मोहवश यह कह सकता है कि स्त्रियाँ समानाधिकार पाकर उच्छृंखल हो जायँगी, अमर्यादित बन जायँगी। पर मेरा विश्वास है कि उनमें सतत निवास करनेवाली दया, ममता, कोमलता, त्याग, सेवा और घर बाँधकर रहने की स्वाभाविक प्रवृत्ति उन्हें ऐसा नहीं करने दे सकती। एक बात और है। संग्रह करने की इच्छा पुरुषों से स्त्रियों में अधिक पाई जाती है। यह भी स्पष्ट है कि संग्रह करने की इच्छा घर की ओर आकर्षित करती है। घर छोड़ सकना स्त्रियों के लिये सम्भव नहीं। घर तो चाहिये ही, पर बाहर भी वे उतना ही अधिकार चाहती हैं जितना पुरुषों का घर पर है। बिना इसके स्त्री का ज्ञान अधूरा रहेगा। क्षेत्र और वातावरण सीमित, विचार सीमित। और समाज की प्राण भावी सन्तान की निर्मात्री के विचार, ज्ञान और क्षेत्र के संकुचित बनाना भावी सन्तान अर्थात् समाज के निकम्मा बनाना है। और क्या यह नहीं पूछा जा सकता कि कार्यक्षेत्रादि के विषय में नारी के छोड़कर अन्य किसी वर्ग के प्रश्न करने का क्या अधिकार? क्या स्त्री पुरुष के कार्यक्षेत्र के सम्बन्ध में कभी प्रश्न करती है?

हम इतिहास में उन वीरांगनाओं की कथायें पढ़ते हैं जिन्होंने बीस-बाईस वर्ष की आयु में ही घर की मोहमाया भरी दीवारों के ढाहकर कवचकृपाण धारण कर युद्ध में शत्रुओं के दाँत खट्टे कर दिये। हम पुराणों में उन उपाख्यानों के पढ़ती हैं जिनमें स्त्रियों ने अपने युद्धरत पति के कन्धे से कन्धा भिड़ाकर मैदान हथियाया। हम उन स्त्रियों की गाथायें जानते हैं जो पति द्वारा की गई भूलों की उपेक्षा कर सच्ची सहचरी के नाते उनके साथ नदी, पहाड़, झाड़, झंखाड़ नाँघतीं धूप, वर्षा, बर्फ के झेलतीं नानाविध यातनायें सहती रहीं। विदेशों की उन साहसी महिलाओं के चरित्र भी हमें देखने को

मिलते हैं जो पति-पुत्र माता-पिता के सारे मधुर सम्बन्धों को भुलाकर राष्ट्र के लिये काल के गाल में जाकर अनेक बार बाहर आई हैं। हम कहते हैं वे देवियाँ हैं, वीरांगनायें हैं। हम उन पर फूल चढ़ाते हैं, वन्दना के गीत बनाते हैं, आँसू अर्पित करते हैं उनपर श्रद्धा के। पर जब अपने देश का प्रश्न आता है, अपने परिवार में उसके प्रयोग का सवाल उटता है तो हम कतराने लगते हैं।

जो देश आज स्त्रियों की मदद पाकर दुगने जोश और ताकत के साथ अपने देश की रक्षा करने और दूसरे देशों को पछाड़ने में लगे हुए हैं, क्या वे अपनी अधूरी शक्ति से ऐसा कर सकते थे? अन्य देशों में स्त्रियों ने घर और बाहर दोनों क्षेत्र अत्यन्त सावधानी और सतर्कता से सँभाल रखे हैं। वे खेती, कारखाने, आफिस, स्कूल, अस्पताल, नगर-प्रबन्ध शस्त्र-निर्माण आदि सब काम अपने ऊपर लिये हुए हैं। इतना ही नहीं युद्ध-स्थल में भी वे पुरुषों के ही समान वीरता दिखला रही है।

एक दृश्य लीजिये। चीन के युद्धमंच पर चालीस हजार स्त्रियाँ फौजी ढँग से चल रही है। उनकी वर्दी फटी पुरानी और मैली है। वह उनके शरीर पर ठीक आती भी नहीं है, क्योंकि उसे उन्होंने युद्ध क्षेत्र से अपने भाई, पति, पिता आदि सम्बन्धियों के मृत शरीर से उतारकर पहिन लिया है, जिन्होंने जापानियों की मशीनगनों की गोलियों का शिकार होकर वीरगति पाई है। चीन के युद्ध क्षेत्र में ये वीरांगनाएँ साहस के साथ आगे बढ़ती हैं और दृढ़ता से लड़ती हैं। तीन महीनों की शिक्षा से ये स्त्रियाँ दक्ष बन गई हैं। यह अवस्था अकेले चीन की ही नहीं है, युद्धलिप्त प्रत्येक देश की स्त्रियों ने रण कार्य में अपना कर्तव्य पूरा कर दिखाया है। विदेशों की इन स्त्रियों की वीरता, कार्यकुशलता आदि की बातें सुनकर जब हमारी दृष्टि अपनी बहिनों की ओर जाती है तब असन्तोष और निराशाभरी एक गहरी हूक दिल में उठकर रह जाती है।

एक दूसरा दृश्य भी घूम जाता है आँखों के सामने। कुछ ही दिन पहले की बात तो है। हाथ में तिरंगा झण्डा लिये हजारों की तादाद में आजादी के नारे लगाती हुई सफेद खद्दर की धोती से आवृत्त भारतीय नारियाँ देश के लिये प्राणों को हथेली पर लेकर तीव्र गति से बढ़ती जा रही हैं। तब कैसे कहे कि हमारी नारियों में वीरता नहीं, त्याग नहीं। कमी है तो केवल बलिष्ठ नेतृत्व और जबरदस्त आन्दोलन की। वास्तव में इन स्वाभाभिमानी स्त्रियों ने स्त्रीसमाज की लज्जा रख ली है। फिर भी अभी तक हमारे यहाँ स्त्रियों का घर से बाहर निकलकर स्वतन्त्र रूप से सार्वजनिक कार्यों में हाथबटाना, जन

सेवा के कार्यों में भाग लेना साधारणतया लोग अच्छा नहीं मानते। 'गृह-प्रबन्ध, शिशु-पालनादि का उत्तरदायित्व नारी पर है और उसका बाहर क्षेत्र में कार्य करना गृह-सुख का बाधक बन जायगा',—इस दृष्टि से उस प्रश्न पर विचार किया तो गनीमत है किन्तु यहाँ तो सब से बड़ा प्रश्न लाज, परदा और समाज की उँगलियाँ उठने का है। वास्तव में यही कापुरुषता महिलाओं की प्रगति में सब जगह आड़े आती है।

नारी—समाज में जागृति

नारी-जागरण का इतिहास इस देश में पुराना नहीं है। यद्यपि भारतीय नारी का रूप सदा उज्वल, भव्य एवं मधुर रहा है, तथापि अन्य आन्दोलनों के समान सामूहिक रूप से नारी-स्वातन्त्र्य की हलचल इसी युग में विशेष दिखाई पड़ी। विज्ञान, समाज-शास्त्र, नागरिक-शास्त्र, राजनीति, और धर्मशास्त्र के नवनव रहस्योद्घाटन के साथ समस्त विश्व में जो एक क्रान्ति उत्पन्न हुई, उसका प्रभाव भारत पर भी पड़ना स्वाभाविक था। धर्म और समाज के बन्धन ढील होने लगे, प्राचीन आस्थायें क्षीण होने लगीं, विश्वास के स्थान पर तर्क ने आसन जमाया, जाति-जाति और व्यक्ति-व्यक्ति में स्वाभिमान जागने लगा। अर्धनिद्रित भारत में फिर चेतना की लहर उठी। नारी ने भी नेत्र खोले। पहले तो उसका तीव्र विरोध किया गया। ऋषियों, महात्माओं और विद्वानों के लम्बे-लम्बे वाक्य विरोध में रखे गये; 'स्त्रीशूद्रौ नाधीयाताम्', 'नस्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति', 'जिमि स्वतन्त्र हुइ बिगरहिं नारी', 'अवगुन आठ सदा उर रहहीं' आदि। धर्म शास्त्रों पर अखण्ड विश्वास करनेवाले आस्तिक सुधारकों ने शास्त्रीय तर्कों का उत्तर शास्त्रीय तर्कों से दिया। 'यथेमांवाचं कल्याणीम्' जैसे मन्त्र पेश किये गये किन्तु ये कब तक कारगर होते। नित्य नई समस्यायें सामने आईं और उनका समाधान आवश्यक हुआ। शास्त्रीय तर्क एक सीमा तक ही काम दे सकते थे इसलिये अन्त में बौद्धिक तर्क, विवेक और विशेषकर अन्य देशों के अनुकरण का प्राधान्य हुआ। फिर भी हमें भारत में नारीस्वतन्त्रता का स्वर ऊँचा करने वाले श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती, राममोहनराय जैसे महापुरुषों को श्रद्धा से मस्तक झुकाना चाहिये जिनके प्रयत्नों के फलस्वरूप हमारा आन्दोलन आगे बढ़ सका है। नारी-समस्या-मूलक जो साहित्य गत महायुद्ध के पूर्व निकला है उसमें आप को नारी सुधार की भावना ही मुख्य मिलेगी। नारी का सावित्री, सीता, दमयन्ती

और अनुसूया बनना उस युग के पुरुष को विशेष रुचिकर था। वह उसे देवी बनाने को तैयार था। मानवी को मानवी के रूप में स्वतन्त्र देखना उसे सहन न हो सका।

गत महायुद्ध के पश्चात् महात्माजी के नेतृत्व में ज्यों-ज्यों राष्ट्रीयता की भावना जोर पकड़ती गई, नारी आन्दोलन बलवत्तर होता गया। सामाजिक और राजनीतिक आन्दोलनों में उसने पुरुषों के कन्धे से कन्धा मिलाकर काम किया। बड़े से बड़े कष्ट और यातनायें सहीं पर उफ़ न की। नारी-समाज के लिये यह कम गौरव की बात नहीं है कि पिछले किसी आन्दोलन में कहीं भी स्त्रियों ने माफ़ी माँगकर स्वयं को कलंकित न किया। स्त्री के इस त्याग और साहस ने पुरुष-समाज की आँखें खोल दीं। पुरुषों को यह विश्वास होने लगा कि स्त्रियाँ भी यदि चाहें तो पुरुषों के समान कार्य कर सकती हैं। सरोजिनी नायडू, कस्तूरबा गांधी, स्वरूपरानी नेहरू, कमलादेवी चट्टोपाध्याय और कमला नेहरू आदि के अदम्य उत्साह और बलिदान ने नारी जाति का मस्तक उन्नत किया। अपनी सफ़लता से आश्वस्त होकर जीवन की दूसरी आवश्यकताओं की ओर नारियों ने दृष्टि डाली। आर्यसमाज ने भी सैकड़ों की संख्या में कन्या पाठशालायें और गुरुकुल खोलकर शिक्षा-वितरण का पुण्य कार्य तो किया ही, साथ ही मन और मस्तिष्क में प्रविष्ट हो जाने वाले विष से भी अपनी स्नातिकाओं को बचाया। पंजाब, युक्तप्रान्त और बिहार में इन संस्थाओं के द्वारा बहुत बड़ा कार्य हुआ है। इधर कला–गगन में श्री महादेवी वर्मा, सुभद्राकुमारी चौहान, उषादेवी मित्रा, दिनेश नन्दिनी, रत्नकुमारी, विद्यावती कोकिल, आदि ज्योतिर्मय तारिकाओं ने शीतल चंद्रिका बिखेर दी है। विज्ञान तथा अन्य उपयोगी विषयों में भी आज भारत की नारियां द्रुतगति से पुरुषों से होड़ लेने लगी हैं। यदि आप गत पाँच सात वर्षों का विश्वविद्यालयों का परीक्षाफल देखें तो आप का हृदय आनन्दातिरेक से फूल उठेगा। कौनसी ऐसी परीक्षा है और कौनसा विश्वविद्यालय है जिसमें छात्रायें छात्रों को पीछे छोड़कर आगे न निकल गई हों? तैरना, दौड़ना, खेल, व्यायाम आदि में भी छात्रायें आश्चर्यजनक उन्नति दिखा रही हैं। यह सब देखकर सचमुच हृदय उल्लसित हो उठता है।

किन्तु यह स्थिति का अधूरा चित्र है। कुछ थोड़े से साधन-सम्पन्न लोगों की ही यह गाथा है। संगीत, कला, काव्य, विज्ञान, स्वास्थ्य आदि विषयों के ये आँकड़े समाज के कुछ गिने चुने परिवारों तक ही सीमित हैं। यदि हम भारत के उन भागों को निकाल दें जहाँ की भाषा हिन्दी नहीं है तो इस प्रकार के संस्कृत परिवारों की संख्या और भी

कम हो जायगी। मध्य-भारत तो हिन्दीभाषी प्रान्तों में भी पिछड़ा हुआ है। इतिहास के देदीप्यमान नक्षत्रों की इस पुण्य जन्मभूमि में नारी-समाज की यह तन्द्रा क्लेशदायक है। इस देश का प्राचीन इतिहास उज्वल है। इन्दौर, उज्जैन, रतलाम और बुन्देलखण्ड, जयपुर, उदयपुर आदि में कौनसी ऐसी रियासत है जिसने स्वतन्त्रता की वेदी पर रक्तदान नहीं किया? अहिल्या और लक्ष्मीबाई की कहानियाँ तो कल की ही हैं। मध्य भारत की चप्पा-चप्पा भूमि वीर, वीरांगनाओं के बलिदान और शौर्य से उज्वल है। हमारा इतिहास खड्ग से लिखा गया है। उदारता हमारा मूलमन्त्र रहा है। प्राणों को आदर्श से अधिक मूल्यवान हमने कभी नहीं समझा। ऐसी स्थिति में यदि आज कोई कहे कि हमारे भारत की महिलायें अन्य देशों से पिछड़ी हुई है तो अवश्य हमें क्लेश होगा। हाँ, तो मैं कह रही थी कि नारी-समाज की जो चतुर्मुखी उन्नति हम देख रहे हैं वह वर्ग-विशेष तक ही सीमित है। साधारण तौर से भारत के किसान के समान भारत की स्त्री भी वहाँ की वहीं है। चौका, चूल्हा और चक्की उसकी समस्यायें हैं। सास, ननद, देवरानी, जेठानी की समस्यायें आज भी ज्यों की त्यों उसके चारों ओर मँडरा रही है। सामाजिक कुरीतियों और धार्मिक अन्धविश्वासों का भार वह आज भी अवनतशिर ढोये जा रही है। इस प्रकार आप देखें तो आप को इस देश में स्त्रियों के दो वर्ग मिलेंगे। एक तो वे हैं जो विश्व की उन्नत से उन्नत महिलाओं के समकक्ष खड़ी हो सकती हैं और दूसरी वे जो अभी प्रस्तरयुग से आगे नहीं बढ़ पायीं। संसार के किसी देश में दो वर्गों के बीच इतना अन्तर शायद ही देखने को मिले। मैं मानती हूँ, कि इसका कारण है निर्धनता और निर्धनता के मूल में है हमारी वर्तमान शासन-पद्धति जिसका अन्त होने से ही महिला-समाज में ज्ञान की किरण पहुँच सकती है। किन्तु यही एकमात्र कारण नहीं है। हम इस स्थिति में भी चाहें तो कुछ कर सकते हैं।

स्त्री का समाज में कितना महत्वपूर्ण स्थान है, यह बतलाने की आवश्यकता नहीं। वह वृद्ध पिता के नैराश्य और अवसाद से भरे जीवन में मधुर-मधुर हास बिखेरने वाली चन्द्रकला है। भाई के उच्छृँखल और नीरस क्षणों को दिव्य सात्विक सौन्दर्यमय स्नेह से अभिषिक्त कर शान्त, सरस और मधुर कर देने वाली पीयूषधारा है। संघर्षमय निष्ठुर जगत के भयावह आवर्तों में चकराते, उत्ताल तरंगों के थपेड़े खा-खा कर कभी इधर, कभी उधर टकराते, विक्षिप्त यौवन की एकमात्र आशा-रज्जु है। थके माँदे, जीवन से ऊबे, हेमन्त के निर्मम आघातों से निष्पत्र, निष्प्राण, अनिच्छित प्राणों का भार ढोते

जरठत्व के लिये मधुऋतु और अन्त में अबोध, असहाय, अकिञ्चन मानवता को अपने अञ्चल में समेट कर उस पर वत्सलता के मोती बरसाती हुई उसे धूल से उठाकर वायु में उड़ने की शक्ति तथा जल थल और आकाश को बाँधने का बल देने वाली मूर्तिमती ममता माता है। नारी के अस्तित्व से ही विश्व के प्राणों में संचरण शक्ति है। प्रत्येक नारी को अपना यह महान रूप प्रतिक्षण स्मृत रखना चाहिये। यही उसका वास्तविक रूप है। वह चाहे बन को सदन बना दे और चाहे तो सदन को बन। दोनों ही उसके लिये सुकर हैं। सच पूछिये तो साहित्य शास्त्र के नवों रस नारी प्रकृति के सहज अँग हैं। नारी में आप इन्हें एकत्र समवेत देख सकते हैं। वह मधुरा है और भैरवी भी, देवी है और राक्षसी भी, विग्रह्वती कोमलता है और कर्कशता भी, नवनीत है और वज्र भी। और उसके दोनों रूप सुन्दर हैं, दोनों ग्राह्य। फिर भी आज वह दासी है, बन्दिनी है, उपभोग्य है, विलासपात्री है। कैसा दयनीय चित्र है ?

वह नर की छाया नारी
वह चकित भीत हरिनीसी
निज चरण–चाप से शंकित
स्थापित गृह के कोने में वह दीपशिखासी कम्पित

और इसका कारण है कि

योनिमात्र रह गयी मानवी निज आत्मा कर अर्पित

ऐसी नारी कर ही क्या सकती है ? दासी से रानी बनने के प्रयत्न में उसने एड़ी से चोटी तक का पसीना एक किया। निज को सँवारा, सजाया, एक एक चेष्टा स्वामी को अनुकूल बनाने के लिये की, पर परिणाम हुआ यह कि दासता का पाश दिन-दिन जकड़ता गया। आज की नारी तो पुरुष से पृथक अपनी सत्ता भी नहीं सोच पाती। सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक और आर्थिक सभी क्षेत्रों से उसका अस्तित्व मिट चुका है। आज उसे कायाकल्प करना है। साहित्य, धर्मशास्त्र सब उसे उपभोग्य-जंगम सम्पत्ति समझते आये हैं। संस्कृत साहित्य में नारी का पद बहुत कुछ सुरक्षित रहा। वह स्वेच्छा से पुरुष की दासी थी क्योंकि पुरुष भी उसका सहचर था। पीछे के संस्कृत साहित्य में केवल पदसेविता के, जिसके मूल में वासना ही मुख्य थी, स्थान-स्थान पर दर्शन होते हैं। संस्कृत के इन्हीं परवर्ती कवियों का प्रभाव मुख्यत: पड़ने के कारण हिन्दी काव्य-साहित्य में नारी के जिस घृणित वासनामय रूप के दर्शन होते हैं उसे आज

का समाज सहन नहीं कर सकता। पुराना साहित्य ही क्यों, हमारे आज के साहित्य की भी नारी के अँगों की नाप-जोख करने की ओर जितनी प्रवृत्ति है उतनी दूसरी ओर नहीं।

ग्रीक और रोमन इतिहास की नारियों ने पुरुष-समाज की इस वृत्ति का उपयोग राष्ट्र के कल्याण के लिये किया जिसके फलस्वरूप इन देशों ने अमर योद्धाओं और साहसिक विजेताओं को जन्म दिया। इस देश में भी स्त्रियाँ पुरुषों को न केवल साहसिक कृत्यों के लिये उत्साहित करती रही हैं अपितु उनके साथ युद्धभूमि में अपने रणकौशल का एवं सभास्थानों में प्रकाण्ड पाण्डित्य का परिचय देती रही हैं। किन्तु इधर मुसलमानों के आक्रमण के बाद भारतीय नारी का जो पतन हुआ उसके आलंकारिक वर्णन से हमारा बहुत कुछ साहित्य कलंकित है। इसलिये आज की नारी को एक ओर राष्ट्रीय दासता की मुक्ति के लिये पुरुषों के कन्धे से कन्धा भिड़ाकर विदेशी सरकार से लड़ना है और दूसरी ओर अपने सामाजिक पाश काटने के लिये अपने 'जनम-मरन के साथी' पुरुष समाज से लड़ना है। इस कार्य के लिये उसे सर्वप्रथम स्वयं को तैयार करना होगा। अपने ही अस्त्र-शस्त्र माँजने पड़ेंगे, अपने ही घर में प्रविष्ट अपर पक्ष के गुप्तचरों को शोधकर उनसे सावधान रहना होगा। सम्भव है, इस सब के लिये उसे बड़ा बलिदान करना पड़े किन्तु जीवित रहने के लिये यह सब करना ही पड़ेगा। यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिये कि उसके साथियों की संख्या नगण्य है। देश का अधिकांश महिला समाज बौद्धिक दृष्टि से सुषुप्त है। जो जाग्रत है उसमें से भी अधिकांश स्वार्थचिन्तना में विभोर है। उसकी निजी समस्यायें और सुख चिन्ता उसे इधर-उधर ताकने का अवकाश ही नहीं लेने देतीं। इसलिये आज की जाग्रत महिलाओं पर बहुत अधिक ज़िम्मेदारी है। उन्हें घर लड़ना है, बाहर लड़ना है और जिनके लिये लड़ना है उनसे भी लड़ना है। घर भी संभालना है और बाहर की भी देखरेख करनी है।

बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह, बहु-विवाह, नारी-अपहरण, पर्दा, सम्पत्ति में अनधिकारिता, विधवा समस्या, वैवाहिक परवशता, धार्मिक जड़ता और प्राचीन रूढ़ियाँ, अशिक्षा, अस्पृश्यता आदि अनेकों ऐसी समस्यायें हैं जिनका समाधान यदि स्त्रियाँ चाहें तो शीघ्रता और सरलता से कर सकती हैं। जो कार्य वर्षों से लगातार प्लेटफार्मों पर होने वाले पुरुषों के लम्बे-लम्बे व्याख्यान और मोटी-मोटी जिल्दों के पोथे न कर सके वह थोड़ीसी कर्मठ साहसी स्त्रियों द्वारा किया जा सकता है। प्रति वर्ष खासी तादाद में महिला सम्मेलन होते हैं जिनमें स्त्रियों की समस्याओं तथा उनके समाधानों पर प्रकाश

डाला जाता है। चित्रों के साथ पत्रों के कालमों में लम्बी-लम्बी रिपोर्टें छपती हैं। प्रति मास पत्र-पत्रिकायें महिलाओं के उत्थान के सम्बन्ध में बड़े-बड़े विचारकों से लेख लिखवा कर छापती हैं पर नारी-उत्थान का छकड़ा आगे बढ़ने का नाम नहीं लेता। भारत की स्त्रियाँ--यदि उन्हें शहरों तक ही सीमित न मान लिया जाय--तो आज भी प्रस्तर-युग से आगे नहीं बढ़ पायी हैं।

और इसका कारण क्या है? आज की जाग्रत महिलाओं का एक बड़ा भाग अपनी समस्याओं के सुलझाव के लिये पश्चिम की ओर ताकता है। वह वहीं से प्रकाश चाहता है। यद्यपि यह प्रत्यक्ष सत्य है कि प्रकाश उधर से आता नहीं, उधर पहुँचकर विलीन अवश्य हो जाता है। इस परमुखापेक्षिता का परिणाम स्पष्ट है। योरोपीय सभ्यता की तड़क भड़क में पलीं और उसी के संस्कारों से प्रभावित महिलायें भारतीय ग्रामों की ओर जो पृथ्वी की छाती पर फोड़ों के समान उठकर सड़ रहे हैं ताकने का साहस तक नहीं कर पातीं! निर्धन, अशिक्षित बहनों के पास जाते उन्हें भय होता है। मैं तो समझती हूँ कि हमारी बहुतसी सुधारक बहनों में भारत के सच्चे कुत्सित स्वरूप की ओर ताकने का साहस तक नहीं है। कल्पना कीजिये उस परिवार की जिसके पास गृह शब्द पर व्यङ्ग्य करता हुआ अधनंगा झोपड़ा है। चारों ओर सड़ते पानी और घूरों की दुर्गन्ध है। पिचके गालों, बाहर निकले दाँतों, और बिखरे केशों से पिशाचिनी का मर्त्य रूप उपस्थित करती 'पेठ ढके तो पीठ खुली और पीठ ढके तो पेठ खुला' वाली जर्जर शत-शत छिद्रों से झुर्रियों का परिचय देती हुई ओढ़नी लपेटे धूल और मैल से सनी, लकड़ी के सहारे टिकी झुकी कमर वाली गृह रानी, और उसके पास नाली के कीड़ों से घिनौने नंग-धड़ंग काले कलूटे, पेट पिचकाये बच्चे! यौवन को कभी उस गृहरानी की ओर ताकने का साहस न हुआ होगा। प्रारम्भ से ही जरा ने उसका अधिकार छीन लिया। चित्र करुण है किन्तु यदि भारतमाता के चित्र की कल्पना की जाय तो क्या वह चित्र ठीक ऐसा ही न होगा? ऐसे परिवारों में जाकर अपना यौवन दान कर स्वयं वार्धक्य मोल ले लेने का साहस रखने वाली महिलायें ही वस्तुतः कुछ कर सकेंगी। अन्य देशों में ऐसा हुआ है। इस देश में भी बौद्धकाल में ऐसा हुआ है। अनेकों कुमारियों ने आजीवन सेवाव्रत लेकर अपनी तपोनिष्ठा से अपना सन्देश सातसमुद्र पार पहुँचाया। और यह फिर होगा जिस दिन भारत की मानवी अपने को उपभोग्य वस्तु न समझकर पुरुषों से भिन्न अपने व्यक्तित्व का अनुभव कर उसे समष्टि के लिये आहुत कर देने का बल संचित कर लेगी।

एक ओर तो है हमारे ६३ प्रतिशत ग्रामों में बसे हुए भारत का यह करुण चित्र जहाँ सभ्यता और संस्कृति जैसे शब्द इंद्रजाल के पारिभाषिक शब्दों से अधिक मूल्य नहीं रखते और दूसरी ओर हैं वे नागरिक परिवार जो सभी दृष्टियों से बहुत आगे बढ़ गये हैं। फिर भी वे बहुत आगे बढ़े हों, ऐसी बात नहीं है। विज्ञान और सभ्यता की वृद्धि के साथ इनका मास्तिष्किक विकास तो हुआ है किन्तु हृदय उतना ही संकुचित हो गया है। आज मस्तिष्क और हृदय में सामञ्जस्य का अभाव है। पारस्परिक सहानुभूति, प्रेम और त्याग का स्थान शुष्क बौद्धिक तर्क ने ले लिया है। भाषा, वेश, चिन्तन सभी कुछ पराया हो चुका है। आज की शिक्षित नारी नये–नये साधन एकत्र कर स्वयं को अधिक से अधिक सजाने, सँवारने और दूसरों को अपने सौंदर्य से आकृष्ट करने का प्रयत्न करती है जैसे नारीत्व बिकने के लिये ही बना हो। आज शिक्षित नारियाँ परिवार पर बोझ समझी जाने लगी हैं। वे शान-शौकत में तो विदेशों की नकल करती हैं किन्तु आर्थिक दृष्टि से स्वतन्त्र नहीं हो पातीं। न उनमें अपेक्षित साहस और क्रियाशीलता ही आ पाती है। इसलिये ये बनाव-शृंगार वाली नारियाँ पुरानी रूढ़िग्रस्त नारी का नया एडिशनमात्र कही जा सकती हैं। विदेशी भाषा बोलने की योग्यता तथा स्टेशनों, क्लबों में जानबूझ कर अपनी भाषा के तिरस्कार तथा विदेशी भाषा के पत्रों, पुस्तकों आदि के व्यवहार से आज की शिक्षित नारी स्वयं को अधिक गौरवास्पद समझती है। शिशुपालन, पाकशास्त्र, गृहकार्य अधिकतर नौकर–चाकरों के भरोसे चलते हैं। ऐसी नारियाँ यह मान लेती हैं कि समाज में दासवर्ग अवश्य रहना चाहिये। मैं रूढ़ियों की भक्त नहीं हूँ किन्तु नवीन का यह अन्धानुकरण भी उचित नहीं।

आज युग बदल रहा है। प्राचीन संस्कारों, आस्थाओं और विश्वासों की शृँखलायें एक–एक कर छिन्न–भिन्न हो रही हैं। पुरातन का स्थान नूतन ले रहा है। सभी देशों में स्त्रियाँ पुरुषों के साथ बराबरी की हैसियत से काम कर रही हैं। क्या घर और क्या बाहर, स्कूलों, कालेजों, दफ्तरों, लड़ाई के कारखानों, अस्पतालों और खेतों–खलिहानों में सभी जगह स्त्रियों ने प्रशंसनीय कौशल का परिचय दिया है। आज नारी-समस्या पुरुष-समस्या से अलग नहीं रह गई है। एक के साथ दूसरी इस तरह गुँथी हुई है कि क्षण भर को भी उसे अलग कर नहीं सोचा जा सकता।

स्त्रियों को राजनीति में भाग लेना चाहिये अथवा नहीं, विधवा-विवाह उचित है या नहीं, विवाह-विच्छेद उचित है या अनुचित, स्त्रियाँ युद्धादिकार्यों में सफल हो सकती

हैं या नहीं, स्त्रियों का कार्यक्षेत्र घर है या बाहर, कन्याओं को कैसी शिक्षा देनी चाहिये आदि प्रश्न ऐसे हैं जिन्हें स्त्रियों के ज़िम्मे छोड़ देना चाहिये। ये उन्हीं के हिताहित की बातें हैं। स्त्रियाँ स्वयं इन पर विचार कर सकती हैं। मेरे विचार से पुरुष वर्ग का इसमें हस्तक्षेप अनधिकार–चर्चा है। पुरुष सिर्फ उन्हें विचार करने और उन विचारों को व्यक्त करने योग्य बनने में सहायता दें। वे विचार में सहायक हो सकते हैं उसी प्रकार सहानुभूति के साथ; जैसे स्त्रियाँ उनकी समस्याओं पर अपना मत व्यक्त कर सकती हैं।

सौभाग्य से इस देश को महात्मा गांधी जैसा जननायक मिल गया है जिसके प्रयत्न से इस देश का महिलावर्ग भी बहुत कुछ आगे बढ़ा है। यूरोपीय सभ्यता के दूषित कीटाणुओं से मुक्त वातावरण में साँस लेनेवाली पूतशीला महिलायें भी अब यत्र तत्र दृष्टिगोचर होने लगी हैं। इस आन्दोलन में स्त्रियों ने सम्मान के साथ अपना कर्तव्य पूरा किया है। शिक्षा और साहित्य के क्षेत्र में उच्च स्थान प्राप्त किया है। वर्तमान हिन्दी साहित्य के कुछ विभागों में तो स्त्रियों को अत्यन्त सम्मानित पद प्राप्त है। व्यर्थ का आडम्बर और ऊँच-नीच की भावना भी धीरे-धीरे कम होती जा रही है। समाज के पिछड़े तथा शोषित-वर्ग की ओर भी कार्यकर्त्रियों का ध्यान जाने लगा है। ये सब शुभ लक्षण हैं। फिर भी आवश्यकता इस बात की है कि हमारा संगठन अखिल भारतीय आधार पर हो और सम्भव हो तो सार्वभौमिक आधार पर। सम्मेलनों की समाप्ति सभापति तथा अन्य कुछ वक्तृत्वकलाविशारदों के व्याख्यानों के साथ ही न हो जाय। वर्ष भर के लिये ठोस कार्यक्रम बनाने के लिये हम मिलें और इस बात पर भी विचार करें कि पिछले वर्ष हम कहाँ तक सफल हुए हैं। अधिकार मिला नहीं करता, लिया जाता है। यदि हम में शक्ति है, जागृति है, अपने अधिकारों का हमें ज्ञान है तो कोई हमें गुलाम बनाकर नहीं रख सकता।

हमारा पर्दा

आज तक पुरुषयुग यदि हिंसा का, दूसरों के अधिकारों को छीनने का, और अशान्ति का युग रहा है तो मैं भविष्य के उस स्त्री युग की कल्पना करती हूँ जिसमें अहिंसा का साम्राज्य होगा, शान्ति का समय होगा और हर एक व्यक्ति, क्या स्त्री और क्या पुरुष, अपने मनुष्योचित अधिकारों को प्राप्त कर सकेगा। स्त्री-पुरुषों की सामाजिक असमानता का और समाज में से आर्थिक, सामाजिक, बौद्धिक, धार्मिक और राजकीय गुलामी का अन्त होगा। मानव समाज की नींव शोषण की अपेक्षा सहयोग की बुनियाद पर खड़ी होगी। आज हिंसा का प्राबल्य है। शक्ति शालियों की हिंसा के सम्मुख जगत का विनाश दिखाई देता है। इस समय अहिंसा पर विश्वास रखना कठिन है। तथापि हमें मनुष्य के उच्च गुणों पर विश्वास रखना होगा, जीवन आशामय बनाना होगा और अपने भविष्य उज्वल के विश्वास से काम करना होगा। आज संसार में मृत्यु की शक्ति का सम्मान है। हमें जीवन की शक्तियों का आदर बढ़ाना होगा।

स्त्रियों का प्रश्न उत्पन्न होते ही स्त्रियों का समाज में क्या स्थान है और पुरुषों की तुलना में उनकी स्थिति क्या है यह सवाल प्रथमतः उत्पन्न हो जाता है। लेकिन इस विषय में बहुत मतभेद है। निसर्गतः क्या स्थिति है, इस सम्बन्ध में निश्चित कहना कठिन है। कुछ यह विचार रखते हैं कि स्त्रियों की अपेक्षा पुरुष श्रेष्ठ हैं तो कोई ऐसा विचार रखनेवाले भी मिल जाते हैं कि नैसर्गिक शिव शक्तियां पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में श्रेष्ठ हैं। पर स्त्री पुरुष की समानता में तो किसी को अविश्वास न होना चाहिये। मनुष्य समाज में दोनों समान हैं। समाज के लिये दोनों आवश्यक हैं—और दोनों के यथोचित कर्तव्य पालन पर समाज की सुख शान्ति और प्रगति निर्भर है। स्त्री पुरुषों की समानता को मान लेने के पश्चात अनेक बातें हल हो जाती हैं। समाज में जो अधिकार पुरुषों को

हैं वे ही अधिकार स्त्रियों को मिलने चाहिये, चाहे वे जीवन के किसी भी क्षेत्र में हों।

समानता के नाते उचित है कि बालिकाओं का लालन उसी प्रकार किया जाय जिस प्रकार बालकों का किया जाता है; और दोनों को शिक्षा में समान स्थान दिया जाय। आज स्त्रियों की शिक्षा की आवश्यकता को समाज ने मान लिया है तथापि उनकी शिक्षा के प्रकार के सम्बन्ध में अनेक मतभेद हैं। वर्तमान शिक्षा स्त्रियोचित नहीं है, ऐसा बहुतों का मत है। भारतीय शिक्षा-प्रणाली में आमूल परिवर्तन हो, यह मैं भी चाहती हूँ। पर साथ ही यह भी मानती हूँ कि बालिकाओं को भी उसी प्रकार शिक्षा मिलनी चाहिये जिस प्रकार बालकों को मिलती है। शिक्षा मनुष्य जीवन के विकास के लिये आवश्यक है तो वह स्त्री—पुरुष दोनों के लिये है। शिक्षा का दुरुपयोग यदि कर सकते हैं तो स्त्री-पुरुष दोनों ही। अतः हमें उपयोगिता के साथ ही अधिकारों को भी देखना होगा और स्त्रीशिक्षा का विकास करना होगा। मैं स्त्रियों के लिये उच्च से उच्च शिक्षा की पक्षपातिनी हूँ। मेरा विश्वास है कि स्त्रीशिक्षा में ही समाज का सच्चा कल्याण निहित है। पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियाँ शिक्षा के लिये अधिक योग्य हैं, इस प्रकार कह दूँ तो अनुचित न होगा। हम ज़रा बालक-बालिकाओं की ओर देखें। लड़कियाँ लड़कों से अधिक चतुर और चपल होती हैं। लड़कियाँ लड़कों की अपेक्षा चलना और बोलना जल्दी सीखती हैं। लड़कों के मुकाबिले बीमार भी कम पड़ती हैं। लिखने-पढ़ने में भी आगे बढ़ जाती हैं। वे शारीरिक विकास में भी पुरुषों से आगे हैं। पुरुषों के शरीर विकास के लिये यदि २०—२५ वर्ष चाहिये तो स्त्रियों के शरीर विकास के लिये १६—१८ वर्ष ही चाहिये। प्रकृति ने स्त्रियों को पुरुषों से किसी प्रकार पिछड़ा नहीं बनाया है। हमें इस बात को समझना चाहिये और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में स्त्रियों को उनका उचित स्थान देना चाहिये।

परदे का प्रश्न बहुत कुछ उपर्युक्त प्रश्न से सम्बद्ध है।

परदा-निवारण का प्रश्न हिन्दू समाज के सुधार क्षेत्र में आज प्रथम स्थान पाए हुए है। मारवाड़ी समाज में तो सुधार और परदा-निवारण ये दोनों शब्द एक साथ हो गये हैं। किसी भी समाज का सुधार और प्रगति महिला समाज के सुधार बिना नहीं हो सकती और महिला समाज की प्रगति जब तक परदा निवारण नहीं होता तब तक नहीं हो सकती अतः महिलाओं का परदा निवारण मारवाड़ी समाज के सुधार का श्रीगणेश है। इसके बिना सामाजिक सुधार की कल्पना करना बिना नींव के इमारत बनाने का प्रयत्न करना है।

परदा-निवारण की बात कहते ही हमारी संस्कृति से उसका क्या सम्बन्ध है, प्राचीन काल में परदा हमारे समाज में कबसे आया आदि प्रश्न उठते है। खोज की बात दूसरी है लेकिन सुधार की दृष्टि से हमारे सामने सीधा सवाल है कि आज परदा निवारण आवश्यक है या नहीं ? और उसका सीधा उत्तर यही है कि वर्तमान समय में परदा निवारण की शीघ्रातिशीघ्र आवश्यकता है।

मारवाड़ी समाज के सुधारक्षेत्र में परदा-निवारण का प्रश्न २०–२५ वर्ष पुराना है। आज परदा-निवारण का वातावरण समाज में तैयार हो गया है। परदे के विरोधी आम सभाओंमें कम दिखाई देते हैं तथापि इस प्रश्न ने मारवाड़ी समाज की विचार धारा को जितनी उत्तेजना देनी चाहिए थी उतनी नहीं दी।

मारवाड़ी समाज में परदा केवल घूँघट के रूप में रह गया है। हमारे यहाँ परदे का वह भीषण स्वरूप नहीं है जो मुसलमान समाज में या हिंदुस्थान के उत्तरी भागों के कुछ समाजों में हैं। मारवाड़ी स्त्रियाँ बाहर घूम सकती हैं। रास्ते में गीत भी गा सकती है। उनके लिए केवल अपने मुँह पर घूँघट डालना आवश्यक समझा जाता है। इस प्रकार के घूँघट का उद्देश्य क्या है ? उससे लाभ क्या हैं ? व्यवहार में वह किस प्रकार अमल में लाया जाता है आदि बातों पर यदि हम थोड़ासा विचार करें तो हमारी यह घूँघट की प्रथा न केवल अनुपयोगी, लाभहीन अपितु हास्यास्पद मालूम होगी। स्त्रियाँ पीहर में परदा नहीं करतीं, ससुराल में ही करती हैं। वे घरवालों से परदा करती हैं बाहरवालों और अपरिचितों से नहीं, यह बात मूर्खतापूर्ण प्रतीत होती है। स्त्रियाँ नौकरों से बराबर बोलती हैं, हँसती हैं और परदा भी नहीं करतीं। लेकिन पति के दोस्त, जेठ, स्वसुर या कहीं कहीं अपनी सास तक से परदा करतीं हैं। यदि स्त्रियों को अपने घरवालों से कोई बात पूछनी पड़ती है तो वहाँ भी नौकर टेलीफोन का काम करता है और यदि नौकर न हो तो भीत से बात कर उसकी प्रतिध्वनि से ही वे अपना काम चला लेती हैं। जिन बड़े बूढ़े और गुरुजनों की संगति का लाभ अधिकाधिक उठाना चाहिए उनके सामने तक बहुओं का आना मना है। परंतु जिन लोगों से यथाशक्य दूर रहना चाहिये उनसे बात करने में आपत्ति नहीं समझी जातीं। इसका परिणाम यह होता है कि हम स्त्रियाँ यही समझती हैं कि छोटे लोगों से ही बोलने का समाज ने हमें अधिकार दिया है। मैंने एक जगह देखा है कि एक सास बिसाती से कुछ खरीद रही थी और बहू वहाँ आने में हिचक रही थी तो सासने कहा, "बीननी ! आजा। ओतो बिसायती है। तन चाहे जिकी चीज पसंद करले।"

लेकिन यदि बहू बीमार हो जाय तो डाक्टर को दिखाते समय उसका भिन्न रूप बना दिया जाता है। बहू को कपड़े से ढँाक कर एक पुलिंदा बना दिया जाता है। डाक्टर को जो कुछ पूछना हो वह घरवालों से ही पूछ सकता है। संकट के समय स्त्रियों की क्या अवस्था होती है, परदा उनके जीवन में किस प्रकार दुश्मन हो जाता है इसका अनुभव मुझे कई बार हुआ है। संकट के क्षणों में कई बार स्त्रियाँ हतबुद्धि सी हो गईं और कई स्थानों पर उन्हें घसीटकर घरों से बाहर निकाला गया।

परदे के कारण गृह–व्यवस्थामें जो कठिनाइयाँ होती हैं, महमानों के आने पर जो संकट खड़ा हो जाता है उसका हमें प्रतिदिन अनुभव होता ही है। हमारी स्त्रियाँ परोस नहीं सकतीं। मेहमानों के आदर-सत्कार की व्यवस्था नहीं कर सकतीं। घर में कोई मेहमान आ जाय तो स्त्रियों के लिये घर जेलखाना बन जाता है। उनका बाहर निकलना बंद हो जाता है और किसी कमरे का सहारा लेकर उन्हें अपना समय गुज़ारना पड़ता है। पुरुषों की कठिनाइयाँ बढ़ जाती हैं और हमारी गृह-व्यवस्था जितनी सुंदर होनी चाहिए उतनी नहीं हो पाती। परदे के कारण प्रवास में भी अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। परदा लज्जा का लक्षण है और शील का पोषक है, इस प्रकार की भावना अद्यापि हमारे समाज में बनी हुई है। लज्जा और शील परदे में नहीं, आंखों में और मन में है। परदा लज्जा का पोषक नहीं, लज्जा का विनाशक है। हम देखती हैं कि परदा हमारे शील के लिये सहायक न होकर अनेक बार कायरतावश नाश का कारण हुआ है। परदे में शील है, ऐसा कहते समय हमें याद रखना चाहिये कि जिन समाजों में परदा नहीं है उन समाजों का न शील हमसे कम है, न सदाचार। परदे से स्त्री कायर बन जाती है और उसकी आँखों का पानी निकल जाता है। अतः हमें परदा हटाना चाहिए और अपनी स्त्रियों की आँखों में वह तेज पैदा करना चाहिए, वह विनय पैदा करना चाहिए जो हमारी संस्कृति और शील की रक्षा कर सके।

इधर परदा-निवारण के संबंध में हमारे समाज में काफ़ी आंदोलन हो रहा है। वयोवृद्ध परदा-निवारण की उपयोगिता स्वीकार करते हैं। युवक परदा प्रथा के विनाश कार्य में संलग्न दिखाई देते हैं। हमारी हरएक सामाजिक सभा परदा-निवारण का प्रस्ताव पास करती है। एक मत से प्रस्ताव पास होते दिखाई देते हैं परंतु व्यवहार में परदा निवारण का कार्य नहीं के समान प्रतीत होता है। इतने बड़े विशाल हिन्दू समाज में इनी गिनी स्त्रियाँ संपूर्ण रूपेण परदा छोड़े हुए

छोड़े हुए दिखाई देती हैं। अनेक युवक जो परदा निवारण की बातें करते हैं वे भी व्यवहार में असफल दिखाई देते हैं और अनेक बार यह भी सुनने में आता है कि पुरुष तैयार है मगर स्त्रियाँ परदा-निवारण के लिये तैयार नहीं हैं। पुरुष की ओर से आज़ादी दी जाने पर स्त्रियाँ स्वतंत्रता के वातावरण में पैर रखते हुए झिझकती हैं। कहीं कहीं पुरुष अपनी कायरता को छिपाने के लिए स्त्रियों के सिर दोष मढ़ देते हैं। पर स्त्रीवर्ग को परदा निवारण न करने का दोष देना अनुचित है। हमें क्या स्त्री और क्या पुरुष सब को मिल कर समाज में क्रांतिमय वातावरण पैदा कर देना और उस शक्ति को जगा देना है जिससे हम अपने विचारों को कार्य रूप में परिणत कर सकें। हमारा सामाजिक जीवन विचारों तक ही सीमित न रहकर क्रिया के क्षेत्र में चला जाय और हमारे समाज के विशाल अंचल से यह परदा प्रथा शीघ्रातिशीघ्र उठकर स्त्रियों को अन्य समाजों की स्त्रियों के समान स्थान प्राप्त करने योग्य बना सके।

युद्ध के कारण आज जो परिस्थिति पैदा हो गई है और रक्षा का बिकट सवाल हमारे सामने आ खड़ा है उसे भी हल करने की शक्ति हममें आ जानी चाहिए। संकट के समय, विनाश के समय, सदियों के कार्य वर्षों में हुआ करते हैं और वर्षों के काम दिनों में होते हैं। संसार की बदलती हुई भयंकर परिस्थिति में यदि जीवित रहना हो तो हमें स्त्रियों के परदा निवारण के कार्य को बड़ी तेजी के साथ करना चाहिये। और उनमें आत्म-विश्वास पैदा करना चाहिये जिससे वे अपने को समझ सकें और अपनी रक्षा कर सकें। सुधारकों पर बहुत बड़ी जवाबदारी है। अब बातों की अपेक्षा क्रियात्मक होना अत्यन्त ज़रूरी है। ठोस कार्य में ही हमारे कर्तव्य की उन्नति और कल्याण है।

स्त्रियाँ जितनी अंधकार में, असावधानी में, अज्ञानता तथा नीची सतह पर रहेंगी और रखी जाँयगी उतना ही समाज भी अंधकार, अज्ञानता में तथा नीचे धरातल पर रहेगा। यदि किसी राष्ट्र, किसी समाज और घर की उन्नति व अवनति देखनी हो तो उस राष्ट्र, उस समाज और उस घर की स्त्रियों को देखना चाहिये। आज समाज में स्त्रियों का क्या स्थान है यह किसी से छिपा नहीं है। और साथ ही साथ समाज भी कहाँ तक गिरा हुआ है यह भी सब समझदार भाई तथा बहिनें जानती हैं। दुःख इस बात का है कि इस गई गुजरी हालत में भी जब कि समाज आखिरी स्वाँस ले रहा है,इने गिनें सुधारकों को छोड़कर शेष समाज ऐसी गहरी नींद में सोया पड़ा है कि अनेक आघातों के पड़ने पर भी उसकी नींद नहीं उचटती। जब दिनदहाड़े हमारी आंखों के सामने लोग हम

पर उँगली उठाते हैं, खुले शब्दों में मज़ाक करते हैं, अपमान करते हैं लेकिन भाई तथा बहनों के हृदय तक तो यह बात पहुँचना दूर, उनके कानों पर जूँ तक नहीं रेंगती। वे समझते हैं कि इन उपहासों के तो हम स्वतः पात्र हैं।

हम लोग अति प्राचीन दस पाँच महिलाओं के नाम लेकर स्त्रीत्व के आदर्श की दुहाई दिया करते हैं लेकिन आदर्श भी समय के साथ बदलते रहते हैं। आज का आदर्श हैं झाँसी की लक्ष्मीबाई, अहिल्याबाई होलकर तथा श्रीमती सरोजिनी नायडू आदि। आज देश इस प्रकार की आदर्श स्त्रियाँ चाहता है। यदि ये बहिनें हमारे ही समान परदे में रहतीं तो भारत माता की इन लाड़ली बेटियों को आज कौन जानता?

स्त्रियों को आज इतना हीन क्यों समझा जाता है? इसका उत्तर एक ही है 'वे स्त्रियाँ हैं इसलिए'। किंतु पुरुष चाहे कितने भी अयोग्य हों वे पूजनीय ही बने रहेंगे। पुरुषों से अधिक योग्यता होने पर भी स्त्रियाँ दासी ही रहेंगी। इस प्रश्न के अतिरिक्त एक मूल प्रश्न यह है कि हमारे यहाँ कार्यभेद पर ही ऊँच-नीच का मापतोल रहता है। स्त्रियाँ घर के भीतर रहकर दासी का काम करती हैं। वे घर झाड़ बुहारकर साफ करती हैं, कपड़े धोती हैं, रोटी बनाती हैं, बर्तन घिसती हैं, बच्चों से लेकर बूढ़ों तक की हर प्रकार से सेवा करती हैं। यह सब काम छोटे लोगों के अर्थात् दासों के ही करने योग्य समझे जाते हैं। यदि स्त्री बीमार हो जाय या कहीं चली जाय तो पुरुष इन सब कामों को नहीं करना चाहता। वह या तो कोई दास दासी रख लेता है नहीं तो होटल की शरण लेता है क्योंकि इन कामों को वह ओछे लोगों के योग्य समझता है। तब भला स्त्री के प्रति उसके उच्च भाव कैसे हो सकते हैं? दूसरा क्षेत्र पुरुष अपने लिये ऊँचा समझ कर सुरक्षित रखता है। कमाना, समाज व्यवस्था करना और आनन्द से रहना आदि। स्त्रियों को यह अधिकार ही नहीं कि वे भी कुछ बुद्धिमान समझे जाने वाले लोगों के कार्य करके दिखा सकें। जिन स्त्रियों को थोड़ासा भी अधिकार, स्वतंत्रता और योग्य शिक्षा मिल जाती हैं वे तुरन्त समाज में चमक उठती हैं।

मेरा यह कहना नहीं है कि स्त्रियों को पुरुषों के बराबर कमाने जाना चाहिये लेकिन साथ ही साथ उनपर समाज का भयानक प्रतिबन्ध भी नहीं रहना चाहिए। आज भी कितनी ही स्त्रियाँ पापड़ मुँगोड़ी करके कसीदा काढ़नी और सीना आदि काम करके, अपना तथा अपने बच्चों का पालन करती हैं। लेकिन प्रायः निराधार स्त्रियों ने ही भूख की ज्वाला से झुलसित होकर घर में रहकर स्वयं ही इन कामों को अपनाया है। समाज

ने ऐसा कोई नियम नहीं बनाया है कि निराधार स्त्रियों को क्या करना चाहिये और न उनके लिये शिक्षा की ही कोई योजना है जिसमें वे सीख पढ़कर समाज, राष्ट्र या साहित्य की सेवा ही कर सकें अथवा अध्यापिका या डाक्टर आदि बन कर स्वावलंबी होकर अपना तथा समाज का कुछ भला कर सकें। आज कितने ही भाई अपनी स्त्रियों तथा लड़कियों को घर ही में अध्यापिका द्वारा पढ़ाना चाहते हैं, कितनी ही कन्या पाठशालाओं में अध्यापिकाओं की माँग रहती है लेकिन चाहिये वैसी अध्यापिका नहीं मिलती। हमें चाहिये हिंदी भाषी और मिलती है बंगला, गुजराती, मराठी भाषी। वे भिन्न भाषा भाषी होकर भी बे पढ़े अन्य भाषा पढ़ाने का दावा करती हैं। अध्यापक चाहिये तो १५ या २० रुपये में मिल जाता है और अध्यापिका ३० या ४० में बड़ी कठिनाई में मिलती है। हमारे समाज में योग्य महिलाओं की बड़ी कमी है। यद्यपि हमारे समाज में लाखों महिलायें बेकार पड़ी हुई किसी तरह अपनी जिंदगी के दिन पूरे कर रही हैं। इतना ही नहीं वरन अपने रक्तमय विषैले उसासों से इस समाज रूपी वृक्ष को झुलसा रही हैं। कहने का मतलब यह है कि हमारे पास ज्ञान प्राप्त करने का, कला कौशल सीखने का सभी प्रकार का सुभीता है। सिर्फ बुद्धि को ही थोड़ा प्रेरित करने की ज़रूरत है। बहुत दिनों से रुढ़ियों की गुलामी में जकड़े, रहने से हमारी बुद्धि पर जंग चढ़ गया है। अब हम उसे विद्या रूपी शाण पर चढ़ा कर तेज़ करेंगे; तभी हम संसार में अपने आपको और समाज को चमका सकेंगे। तभी संसार हमारी ओर आश्चर्य से देखेगा। जो हमें हास्यास्पद समझते हैं वे ही फिर हमें आदरणीय समझने लगेंगे।

हमारे ही साथ हमारी संतानों का सवाल लगा हुआ है। बच्चे की सच्ची पाठशाला और सच्चे शिक्षक हम ही हैं। हम जो कुछ करते हैं उसे बच्चा बारीकी से देखता है और अपने जीवन में उतारता है। वह हमें लड़ते झगड़ते, झूठ बोलते, संकुचित वृत्तिवाली, देश समाज से मुख मोड़े और कलाहीन देखता है तो वह भी वैसा ही होता जाता है। हम समझते हैं कि बच्चे स्कूल जाकर अच्छी अच्छी बातें सीख जावेंगे लेकिन हम देखते हैं कि घर में रहनेवाले बच्चों पर स्कूल याने किताबी ज्ञान का कुछ भी असर नहीं होता। आगे जाकर हमारी ही प्रतिछाया उनमें झलकती है। बच्चों को हम जैसा बनाना चाहते हैं वैसे ही हमको स्वयं बनना चाहिये। यदि आप घरकी साफ सफाई रखेंगी तो बच्चे भी स्वच्छता सीखेंगे और वे भी घरमें कचरा करना पसंद न करेंगे।

कहने के लिए तो समाज के कर्ताधर्ता और नियम बनाने वाले

और बिगाड़ने वाले पुरुष ही होते हैं । लेकिन समाज की कुंजी वास्तव में स्त्रियों के हाथ में रहती है । अविद्या के कारण वे इस रहस्य को नहीं समझ सकतीं । स्त्रियों के सहयोग के बिना समाज-सुधार हो ही नहीं सकता । आप स्वदेशी २ चिल्लाते रहिये, घर में विदेशी माल आता ही रहेगा । आप अछूतोद्धार करना चाहें भी तो क्या मज़ाल है जो किसी अछूत को आपके घर में आश्रय मिल सके । बाल-विवाह पर भी स्त्रियाँ ही अधिक ज़ोर देती हैं । मृतक भोज से भी अभी हमारा मोह नहीं छूटा । अनमेल विवाह की भी स्त्रियाँ उतनी परवाह नहीं करतीं और न विधवा-विवाह पर ही जोर देती हैं । तभी सभाओं में प्रस्ताव पास होकर कागजों में ही रह जाते हैं, क्रिया के रूप में नहीं आ सकते । इसीलिये मैं कहती हूँ कि स्त्रियों की मदद के बिना समाज सुधार हो ही नहीं सकता । आज भी पुरुषों के मना करने पर सड़कों पर गीत गाये ही जाते हैं । लेकिन मेरी इन बातों से पुरुष समाज अपने को निर्दोष न समझे । अन्य समाजों की स्त्रियाँ जहाँ क्लब, सिनेमा, टेनिस आदि खेलों से दिल बहला लेती हैं वहाँ हमारे समाज की महिलाओं के मनोरंजन के लिए दूसरे साधन भी तो नहीं हैं । सुधार के नाम पर गीत बन्द कर देना तो उनके साथ अन्याय होगा । मैं तो चाहती हूँ कि गीत गाये जाँय और खूब गाये जाँय । हमारे गीतों में साहित्य छिपा है । उनमें सरसता है और अर्थ गाम्भीर्य है । यदि ये ही गीत कुछ परिमार्जित करके ताल-स्वर में गाये जाएँ तो हमारे लिए गौरव की चीज हो सकते है । लेकिन रास्ते पर चलते हुए गाना तो अत्यन्त भद्दी बात है और उसी प्रकार मृतक के पीछे ज़ोर ज़ोर से पुकारते हुए रास्तों पर रोना । हमारे सामने जिन सीता सावित्री आदि देवियों का आदर्श रखा जाता है वे न तो परदा करती थीं और न सड़कों पर रोती गाती थीं । रोना गाना और हँसना सिर्फ रुढ़ि-पालन के लिये मत करिए । जो बात समाज के लिए हास्यास्पद हो उसको एकदम बन्द कर देना चाहिए ।

पुरानी जीर्ण शीर्ण निरुपयोगी रूढ़ियों को तोड़ने का काम हरएक आदमी नहीं कर सकता । इसके लिये आत्मबल, साहस और विचारों पर दृढ़ रहने की आवश्यकता होती है । कितनी ही बहिनें कहा करती हैं कि पहले अमुक से परदा छुड़ाइये फिर मैं भी छोड़ दूँगी । इसी प्रकार दूसरी तीसरी का नाम बतला देती है । यह तो बहानेबाजी, डरपोकपन और किसी प्रकार बात को टालना है । ऐसा करने से आप समाज को उन्नत नहीं बना सकतीं ।

एक बात पर आप का ध्यान आकर्षित कर देना चाहती हूँ। हमारे भाई-बहिन तथा बच्चे इतने निस्तेज, डरपोक, अस्वस्थ, नीरस और कलाहीन क्यों दिखाई देते हैं? लगभग २०-२५ वर्षों से समाज में सुधार की आवाज उठ रही है। अनेकों सभाएँ होती हैं, विचार विनिमय होते हैं, प्रस्ताव पास होते हैं लेकिन अभी तक कुछ इने गिने सुधारकों के अतिरिक्त सुधारों को किसी ने नहीं अपनाया और जब तक सर्वसाधारण जनता सुधारों को नहीं अपनाती तब तक केवल पाँच-पचास बड़े घरानों का सुधार अर्थ ही क्या रखता है? मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि विद्यारूपी प्रकाश के बिनां हमारा यह अन्धकार का परदा हट नहीं सकता।

सामाजिक रूढ़ियों को हटाने के लिये शिक्षा की अत्यन्त आवश्यकता है। हमारे समाज में स्त्रीशिक्षा के सम्बन्ध में बहुत मतभेद है। कुछ लोग लड़कियों को केवल अक्षर ज्ञान हो जाना और चिठ्ठी-पत्री योग्य टूटे फूटे शब्दों का लिखना आ जाने को ही पर्याप्त समझते हैं। ऐसे भाइयों के लिये अवश्य ही मैं कहूँगी कि उन्हें विद्या के महत्व का ज्ञान नहीं है। यदि मेरे भाई विद्या को पैसे कमाने का साधन समझते हैं तो यह उनकी भूल है। विद्या तो गृहकार्यों में, उठने बैठने में, खाने पीने और कपड़े पहिनने तक में काम आती है। आज समाज की स्त्रियों में जो फूहड़पन दिखाई देता है वह अविद्या का ही कारण है। विद्या हृदय का प्रकाश है और दिमाग की भूख है। इसके लिये पक्षपात करना स्त्रियों के साथ अन्याय है। यह अन्याय बहुत समय से होता आ रहा है। और इसीका कड़वा फल हमारा समाज़ चख रहा है। सुधारकों तथा कार्यकर्ताओं का कर्तव्य है कि समाज के हर एक स्त्री-पुरुष को ढूँढ ढूँढकर अक्षर ज्ञान करा दें। हर एक लड़की या लड़के की शादी तभी होनी चाहिये जब उसका कम से कम जीवन के आवश्यक विषयों का शिक्षण हो जाय। प्राचीन काल में पचीस वर्ष तक ब्रह्मचर्य पालन करते हुए अध्ययन करना पड़ता था लेकिन आज तो अध्ययन के नाम से हम परहेज़ सा करते हैं। हमारा पैसा किस काम का यदि हम अपने समाज को ही सुन्दर और सुडौल नहीं बना सके? हमारा समाज मंदिर बनवा देना, कुआ बावड़ी खुदा देना, धर्मशाला बनवा देना, ब्राह्मण जिमाना, संक्रान्ति, सोमवती और मितिपात आदि पर्वों पर दान करना तो खूब जानता है पर समाज के शिक्षण, कला-कौशल, उद्योग-धन्धों और साहित्य-साधना की ओर उसका ध्यान नहीं है। दान-धर्म को मैं बुरा नहीं समझती किन्तु ब्राह्मणों को बेमतलब का दान देकर उन्हें निरुद्योगी और आलसी बनाने के पक्ष में मैं नहीं हूँ। दान करना हो तो

ऐसा करे कि वह ब्राह्मणों के दूसरों का मुँहताज न बनाकर स्वावलम्बी बनाये और ब्राह्मण कन्याओं के दासियाँ न बनाकर पंडिता बना दे जो हमारी कन्याओं के और हम के पढ़ाने तथा उपदेश देने का काम कर सकें; न कि हमारे आराम का साधन बनकर गीत गाना, मेंहदी माँडना और टेनियाँ लेकर इधर उधर घूमने का ही काम करे। यह ब्राह्मण जाति के और उनके साथ ही सारे समाज के पतन का कारण है। भविष्य में हमारा दान ब्राह्मण-कन्याओं के पढ़ाने में ही खर्च होना चाहिये। किन्तु केवल सभाएँ करने और व्याख्यान सुनने से कुछ नहीं होगा। हमें नियमित रूप से प्रतिदिन सामाजिक और राजनैतिक लेख पढ़ने चाहिये और उन पर विचार करना चाहिये। हम यह भी न समझें कि परदा छोड़ने पर तुरन्त ही हृदय में ज्ञान की दिव्य ज्योति जगमगाने लगेगी। हाँ, यह जरूर समझ सकेंगी कि देश के अन्य समाजों की स्त्रियों में हमारा क्या स्थान है। जब तक स्त्रियाँ परदा न छोड़ेंगी तब तक त्रिकाल में भी आत्म बल नहीं आ सकेगा।

भारतवर्ष की प्राचीन संस्कृति में स्त्रियों का उच्च स्थान था। यह बात सर्वसम्मत है तो भी आज व्यवहार में भारतीय ललनाओं का स्थान अत्यन्त हीन है, यह बात अस्वीकार नहीं की जा सकती। उनके जीवन का प्रत्येक क्षेत्र दासता से भरा है। बाल्यावस्था से मृत्यु तक पुरुषों की अधीनता उनके जीवन का ध्येय है। उन्हें समाज में स्वतन्त्र स्थान नहीं है। पुरुष के सहारे उनका जीवन है। पुरुष के सहारे उनका विकास है और पुरुषों के सहारे उनकी स्वर्ग-प्राप्ति है। हमारी प्राचीन संस्कृति में यदि स्त्रियों के स्थान की उच्चता का गौरवपूर्ण उल्लेख है तो वर्तमान समय में हमारे परावलम्बन की पराकाष्ठा भी है। हमें आर्थिक स्वातन्त्र्य नहीं है, हमें सामाजिक स्वातन्त्र्य नहीं है और हमें मरने की भी स्वतन्त्रता नहीं है। इस परतन्त्रता ने, परावलम्बी जीवन ने स्त्रीसमाज के निस्तेज बना दिया है; और समाज का आधा अंग प्रायः बेकारसा हो गया है!

सन्तान पर माता का प्रभाव

संसार में मनुष्य सब से श्रेष्ठ प्राणी है। वही एक ऐसा प्राणी है जिसे संसार की दिव्य विभूतियों का कुछ न कुछ ज्ञान अवश्य है। वैज्ञानिकों ने सिद्ध किया है कि वृक्ष पौधों आदि अचर-पदार्थों में भी इन्द्रिय-ज्ञान है। और वास्तव में चींटी और मक्खी आदि कई प्रकार के कीड़ों के गृह-निर्माण और कौशल देखने योग्य और मनोरंजक होते हैं। वैज्ञानिकों ने अपने प्रयोगों द्वारा सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि वृक्ष भी हँसते हैं, रोते हैं, क्रोध करते हैं, घृणा करते हैं, प्रेम करते हैं। यह सब मानते हुए भी वे सब मनुष्य की कोटि में कदापि नहीं आ सकते। उन्हें मनुष्य के समान अन्तर और बाहर का ज्ञान नहीं। मनुष्य समझता है कि समस्त सृष्टि ईश्वर ने मेरे लिये बनाई है। तितली के रंगों को देख उसका मन उछलता है, गिरियों के झरनों की कलकल के साथ उसका मन कलोलें करने लगता है, फूलों की हँसी में वह अपनी हंसी मिला देता है। बसन्त की मस्ती में झूमता हुआ वह भी कोयल की कूक के साथ गाने लगता है। तात्पर्य यह कि बाह्य जगत का अन्तर्जगत पर पूरा प्रभाव पड़ता है। दोनों के ऐक्य में मानव के जो उद्‌गार निकलते हैं वे ही श्रेष्ठ कविता का रूप धारण करते हैं। मनुष्य ही वह प्राणी है जिसे संसार मुठी में दिखाई देता है। अनेक प्रकार के ज्ञान-विज्ञान, तत्वज्ञान आदि के द्वारा उसने संसार के कण कण को खोज डाला है। किन्तु, मनुष्य अपने में मस्त नहीं रहता। वह अपनी मस्ती, अपना अनुभव दूसरों को दे डालना चाहता है। उसने पानी में चलना सीखा, हवा में उड़ना सीखा, संसार के इस छोर पर बैठकर उस छोर से बातें करते जाना। जीवन-मरण के प्रश्न को समझा और आत्मानुभूति की। पर अकेले ही ने यह सब नहीं भोगा है। अनेक प्रकार के दुख संकट अवश्य उसने भोगे पर सुख का भाग सारे संसार को दिया। विष विष स्वयं पी गया और अमृत अमृत संसार को लुटा दिया।

तभी वह उच्च कोटि का कलाकार वैज्ञानिक और ज्ञानी कहलाया।

संसार में मनुष्य का कितना महत्व है इसे हम सरलता से जान सकते हैं। मैं तो समझती हूँ, संसार का अर्थ मनुष्य है और मनुष्य का अर्थ संसार। ऐसे अमित महत्व-शाली मनुष्य का जन्म माता की कोख से होता है। पैदा होने वाले की अपेक्षा पैदा करने-वाले का महत्व अधिक है। ऐसी दशा में माता का महत्व बताना मनुष्य की शक्ति के बाहर है। किन्तु ऐसी गौरवमयी मातायें आज अपने बारे में क्या समझती हैं, यह कहते मुझे लज्जा होती है। मातायें समझती हैं कि स्त्री जाति पतित, 'पैर की जूती,' दासी, मूर्ख, अविवेकी, और अनेक दुर्गुणों की खान होती है। अशिक्षित स्त्रियों के तो इस प्रकार के धार्मिक विचार से बन गये हैं। वे कहा करती हैं कि परमात्मा स्त्री की योनि किसी को न दे। इन भावनाओं से प्रेरित देवियाँ सिंह-शावक के समान सन्तान कैसे पैदा कर सकती हैं?

ये सब भावनायें कहीं से आई हों इन सब को भूल जाना चाहिये। यदि आप को महापुरुष और महान् सन्तान चाहिये तो स्वयं अपने को भी वैसा ही बनाना होगा। यदि आप को नीरोग, हृष्ट–पुष्ट बलवान, वीर्यवान, बुद्धिमान, साहसी, सुन्दर और धर्मात्मा बालक चाहिये तो आप अपने को भी वैसा ही बनाइये। आपके गुणागुण–प्रतिबिम्ब के समान बच्चों पर उतर आते हैं। कहीं-कहीं हम देखते हैं माता–पिता अच्छे होते हैं और बेटे–बेटी अच्छे नहीं होते। कहीं-कहीं एक ही माता की सन्तानों के गुण-स्वभाव में बहुत अन्तर रहता है। इससे कुछ लोग उपर्युक्त बात पर विश्वास नहीं करते। किन्तु विचार करके देखें तो समझ में आ जायगा। बच्चा जब ९ महीने पेट में रहा है तब जिन २ बातों से, जिन जिन परिस्थितियों में से माँ गुजरती है उस सब का असर बच्चों पर पड़ता है। उन दिनों यदि माँ का स्वास्थ्य अच्छा नहीं हुआ, स्वभाव चिड़चिड़ा या क्रोधी हुआ, उसे दुख या शोक हुआ तो बच्चे पर इन सब बातों का असर अवश्य होगा। और यदि स्वास्थ्य अच्छा हुआ, आल्हाद, उत्सव और प्रसन्नता रही, उच्च, उदार और अच्छे विचार हुए तो बच्चा भी बहुत चपल, सुडौल, सुन्दर और हँसमुख होगा। मनुष्य के दिल पर परिस्थिति के अनुसार सुख, दुख आदि अनेक दशाएँ गुजरती हैं और जिन जिन दशाओं से बालक को गुजरना होता है उन्हीं के अनुरूप वह भी बन जाता है। इसलिये एक ही माता की सन्तानों में साम्य नहीं होता। यह तो हुई रक्त की बात। पर यहाँ तक मानते हैं कि संगीत से मनुष्य बिगड़ और सुधर जाता है। कहावत है कि काले

के पास बैठा तो काट अवश्य लेगा। हम देखते हैं, हरी घास में जो कीड़े रहते हैं वे हरे हो जाते हैं, पीली में पीले, सफेद में सफेद और काली में काले।

नीतिकार का कथन है कि साँप से १० हाथ दूर रहना चाहिये, पागल कुत्ते से ५० हाथ और कुसंगति से लाख हाथ। संगति का प्रभाव हम प्रत्यक्ष देखते हैं। इसी लिये लाख प्रयत्न करके बच्चे को कुसंगति से बचाना चाहते हैं। फिर भी गर्भस्थित बच्चे पर मातापिता का कितना असर होता है इस पर मातापिता और बड़ेबूढ़े बहुत ही कम ध्यान देते हैं। बच्चा दिनरात माता पिता की छाँह में रहता है पर वे कभी यह नहीं सोचते कि हम में भी कोई दोष है जिसे बच्चा सीख लेगा। यदि पिता कोई नशीली वस्तु खाता है, बीड़ी तमाखू पीता है तो बच्चा भी उसकी नकल करता है। माताएँ तो संसार में सब से बड़ी गुरु मानी जाती हैं। वे बच्चे को जो कुछ सिखाती हैं उसका असर जीवन भर रहता है। वे बच्चे को डरना सिखाती हैं—"हाऊ आया, बिल्ली आई म्याँऊ म्याँऊ, सिपाही आया ले जायगा" सारी बातें बच्चे पर बहुत प्रभाव डालती हैं। वह डरना और झूठ बोलना साथ ही साथ सीख लेता है। बच्चे को उत्पन्न करना सरल है, पर उन्हें योग्य बनाना सरल नहीं है। बच्चों का पालन बड़ी सावधानी के साथ प्रत्येक माता को सीखना चाहिये। हमारे पास उत्तम से उत्तम कपड़े और सीने पिरोने का सुन्दर से सुन्दर सामान पड़ा है। खाना बनाने के लिये उत्तम से उत्तम सामग्री है किन्तु बिना सीखे क्या हम कतर ब्योंत कर सकती हैं? 'अच्छा कपड़ा सीना, कसीदा काढ़ना, बुनना चरखा चलाना आदि हम महीनों शिक्षकों से सीखती हैं तब कहीं हमारा उस पर हाथ बैठता है। यदि हमारी कोई चीज़ अच्छी नहीं बनती है और दूसरे की अच्छी होती है तो हम उसके पास जाकर उसकी सी चीज़ बनाने की कोशिश करती हैं।

किन्तु शिशुपालन के समान महत्व-पूर्ण काम हम योग्यतापूर्वक सीखने का प्रयत्न नहीं करतीं। वह काम एक मशीन की तरह चलता रहता है। खाना बनाने के लिये हम उत्तम उत्तम पाकविज्ञान की, पाकशास्त्र की पुस्तकें मँगाती हैं। सिलाई सीखने के लिये, एम्ब्रायडरी, हस्तकार्य की अच्छी पुस्तकें मँगाती हैं; पर उत्तम रीति से सन्तान पालने की ओर कितनी स्त्रियों का ध्यान जाता है। और कितनी इस विषय की पुस्तकें मँगाकर पढ़ती हैं?

किन्हीं गर्भिणी बहिनों से जब मैं यह कहती हूँ कि 'आप को प्रसन्नचित्त रहना

चाहिये, क्षोभ न करना चाहिये, न मोह, दुख, सन्ताप में ही पड़ना चाहिये और न भयभीत होना चाहिये, मिट्टी कोयले न खाना चाहिये इससे बच्चे पर बहुत ही भयंकर प्रभाव पड़ता है, तब वे कहती हैं, "यह तो गृहस्थी है। यहाँ सभी प्रकार के मनुष्यों से काम पड़ता है। सभी प्रकार के दुख-सुख सहने पड़ते हैं। धक्के-मक्के खाने होते हैं। उतार चढ़ाव देखने पड़ते हैं। भलाई बुराई में से गुजरना होता है। हमेशा प्रसन्न रहना, सभी प्रकार के दुःखों से अलग रहना इस दुरंगी दुनियां में कैसे सम्भव हो सकता है।" यह कहना एक हद तक ठीक है। जिस तरह और कामों में होशियार होने का प्रयत्न करती हैं उसी तरह गर्भावस्था में प्रसन्न रहने का प्रयत्न करें तो कुछ कठिन नहीं है। जब किसी के बेटे का विवाह होता है और महीनों तक उसका कार्य चलता रहता है तो उस अवधि में माता कितनी, शान्त और प्रसन्न रहती है। वह साधारण स्त्रियों की बातें भी सुनकर हँस देती है। सभी को प्रसन्न रखने का प्रयत्न करती है। यहाँ तक कि जब नाइन, धोबिन, दाइन आदि भी अपने अपने नेग के लिये झगड़ने लगती हैं तो वह यह सोचकर अप्रसन्न नहीं होती है कि भगवान ने आज ऐसा शुभ दिन दिखाया। इस अवसर पर प्रसन्न ही रहना ठीक है। वह रूठी हुई स्त्रियों को मनाती है; उनका मान रखती है और प्रशंसा करती है। घर में किसी ने कुछ नुकसान कर दिया तो धीरे से समझाने का प्रयत्न करती है। कभी कभी तो देखी अनदेखी कर जाती है। वह सब के खाने-पीने और सुख सुविधा की फिकर रखती है। इतने पर भी जब लोग अनेक प्रकार की टीका टिप्पणी करते हैं, भला बुरा कहते हैं तब माता अपने बेटे का विवाह आनन्दपूर्वक निपट जाये, इस दृष्टि से किसी की बात का बुरा नहीं मानती; वरन् सब को प्रसन्न रखती है। इसी तरह यदि किसी माता को लम्बी प्रतीक्षा के बाद बच्चा हुआ हो तो उसे भी उतनी ही प्रसन्नता होती है। छोटी-छोटी स्त्रियाँ भी बालक पर ममता दिखाती हुई माँ को उलाहना देने लगती हैं, "देख बच्चे का मुँह नहीं धोया, वह भूखा होगा, उस पर मक्खी बैठती है, अब इस तरह से अलल बछेरे की तरह घूमना छोड़ दे, बच्चे को सँभाल आदि। यह बातें माता को फूल की छड़ी सी लगती हैं। इसी प्रकार बच्चे के पेट में रहने पर माता को खुश होना चाहिये। बच्चे की भलाई के लिये सभी को खुश रखते हुए स्वयं को भी प्रसन्न रखना चाहिये।

घर की बड़ीबूढ़ी स्त्रियाँ और पुरुषों को भी गर्भिणी की ओर ध्यान देते रहना बहुत आवश्यक है। महाराष्ट्रीय जनों में तो मासिक धर्म होने पर उत्सव किये जाते हैं।

भेंटें देकर गा बजाकर प्रसन्न किया जाता है। गर्भवती के भी प्रसन्न रखने के लिये उत्सव जिन्हें मराठी में "ढोआले" कहते हैं, किये जाते हैं। 'ढोआलों' में भी गर्भिणी की इच्छाओं की पूर्ति की ओर संकेत रहता है। महाराष्ट्र में आज भी यह रिवाज़ विधिवत् पाला जाता है। मारवाड़ी गीतों में भी गर्भिणी की इच्छा पूर्ति और प्रसन्न रखने का संकेत है। सातवाँ महीना हमारे यहाँ भी पूजा जाता है। यह भी गर्भिणी के खुश रखने के लिये ही है। पर आज यह रिवाज नाममात्र के ही रह गया है। इसके वास्तविक मूल्य की ओर किसी का ध्यान नहीं जाता। बच्चा पैदा होने पर भी अनेक प्रकार के उत्सव मनाये जाते हैं, काफ़ी पैसा खर्चा जाता है पर जच्चा और बच्चे की ओर ज़रा भी ध्यान नहीं दिया जाता। इसका कारण यह नहीं है कि स्त्रियाँ जान बूझकर ऐसा करती हैं या वे बड़े भारी खर्च या मेहनत से बचना चाहती हैं। नहीं, सवाल उनके अज्ञान का है। उन्हें इन बातों की जानकारी नहीं है। इसीलिये उनसे न होने योग्य अनेक कार्य हो जाते हैं। इसका परिणाम घरवालों के, जच्चा बच्चा और समाज के भी भोगना पड़ता है। यदि घर की बुजुर्ग स्त्रियों से इस बारे में कुछ कहा भी जाता है तो वे कह देती हैं "क्या हमारे बच्चा नहीं हुआ है? सब इसी तरह से हो गये। हमें क्या सिखाते हो।" पर आज की स्त्रियों और ५० साल पहिले की स्त्रियों में कितना अन्तर है? वे इसे नहीं देखेंगी। आज की अधिकतर स्त्रियाँ प्रसूति के बाद बीमार होकर निकलती हैं। और पहिले की स्त्रियाँ अधिकतर प्रसूति से हृष्ट पुष्ट और स्वस्थ निकलती थीं। इसका कारण उनके शरीर की मजबूती था। बच्चा होने के दिन तक काम में लगी रहती थीं। बच्चा होने के बाद कुछ दिन उन्हें जो आराम मिल जाता था उसीसे उनके स्वास्थ्य पर काफ़ी अच्छा असर होता था। और सबसे बड़ी बात तो यह थी कि उनकी पाचन-शक्ति बहुत अच्छी रहती थी। परिश्रमी स्त्रियों के लिये यह स्वाभाविक भी है। इसीलिये अव्यवस्थित रहने पर भी उन पर कोई बीमारी असर नहीं डाल सकती थी। आज की स्त्रियाँ वैसी नहीं रहीं। वे नाजुक और स्वच्छताप्रिय हो चली हैं। उन्हें भी यह ध्यान रखना चाहिये कि गर्भावस्था तक में कामों में लगी रहें। जिससे उनका चित्त भी प्रसन्न रहे और स्वास्थ्य भी अच्छा रहे। गर्भिणी के प्रतिदिन ३-४ मील दिन में दो बार टहलना अवश्य चाहिये। बाहर खुली हवा में जा सके तो बहुत ही अच्छा, नहीं तो घर में छत इत्यादि खुली जगह पर टहलना लाभकर है।

कोई कोई बहिन यह कहकर अपना दिल छोटा किया करती हैं कि हम तो

गरीब हैं। हमारे बच्चे महापुरुष और होनहार कैसे हो सकते हैं। जितने महापुरुष, बड़े-बड़े आविष्कारक, वैज्ञानिक शास्त्रकार, कलाकार हो गये हैं उनमें अधिकतर गरीब माँबाप की ही सन्तान थे। उनका बचपन कष्टों में बीता है। वे ही आगे चलकर महापुरुष कहलाये। कितनों ही के निर्माण में उनकी माताओं का जबर्दस्त हाथ रहा है। महात्मा गांधी ने आत्मकथा में अपनी महानता का मूल कारण अपनी माता को बतलाया है। सुभाषचन्द्र बोस पर माता का प्रभाव है। शिवाजी तो जीजा की ही देन थे। और कुपुत्रों के लिये भी माताएँ ही गालियाँ खाती हैं "भला जाया निउल्ली ने इससे तो बाँझ ही अच्छी थी।" आप चाहें और प्रयत्न करें तो जो आप को असम्भव लगता है वही सम्भव हो सकता है। लोग अनेक वस्तुएँ बनाया करते हैं उनमें कुछ अच्छी और कुछ बुरी होती हैं पर विज्ञान के ज़रिये लोग उत्तम से उत्तम चीज़ें बना लेते हैं। उसी प्रकार यदि मातायें भी वैज्ञानिक रीति से योग्य संतान उत्पन्न पर विचार करें तो कोई कारण नहीं उनकी सन्तान बलवान बुद्धिमान, सदाचारी और यशस्वी न हो।

अतीत और वर्तमान

स्त्री और पुरुष एक दूसरे के अभाव के पूरक हैं। गृहस्थ की गाड़ी के इन दोनों पहियों को समान रूप से पुष्ट होना चाहिये। और फिर आज के युग में तो कहना ही क्या जब कि अन्य देशों की स्त्रियाँ घर और बाहर सर्वत्र पुरुषों के कन्धे से कन्धा भिड़ाकर कार्य कर रही हैं। इतना ही नहीं कुछ क्षेत्रों में उनसे भी आगे बढ़ना चाहती हैं। राजस्थान और उदयपुर के इतिहास को सबसे अधिक गौरव प्रदान करनेवाली भी यहाँ की स्त्रियाँ ही थीं। यों तो देश के अनेकों भागों में बड़े-बड़े युद्ध हुए, वीरों ने बलिदान किये, पर राजस्थान के बलिदान का नाम जो सबसे आगे आता है। उसका कारण यहाँ की महिलाओं की वीर भावना और साहस भरी कृतियाँ हैं। जो नारियाँ पति और पुत्र को युद्ध में भेजने के समय उत्सव मनाती थीं, जो नारियाँ युद्ध भूमि से आये हुए पति को मृतवत् मानकर प्राण त्याग देती थीं, जो वीरांगनाएँ न केवल अग्नि में जल कर ही जौहर दिखाती थीं बल्कि युद्ध भूमि में पतियों के साथ लड़ती हुई शत्रुओं को अपने जौहर से चकित कर देती थीं उन वीर पुत्रियों वीर वधुओं, और वीर माताओं की समाधि की धूलि का एक कण भी मस्तक पर चढ़ाकर कौन व्यक्ति अपने भाग्य को न सराहेगा? राजस्थान का साहित्य ऐसी ही वीर सतियों के रक्त से लिखा गया है।

किन्तु ये अतीत की बातें हैं। निष्ठुर वर्तमान आँख बँद कर लेने पर भी पलकों को चीर पुतलियों पर प्रतिबिंबित हो ही जाता है। मैं किसी समाचार पत्र में पढ़ रही थी कि अमेरिका में अस्सी हजार स्त्रियाँ पिछले सप्ताह फौजी कार्यों के लिये भरती हुई हैं जो दस लाख सैनिकों की व्यवस्था करेंगी। मुझे गर्व का अनुभव हुआ किन्तु दूसरे ही क्षण वह गर्व विषाद में बदल गया। मैंने सोचा, यदि राजनीति अथवा अन्य कारणों से भारत को युद्ध में सम्मिलित होना पड़े तो क्या हम भी इसी प्रकार स्त्रियों की कोई सेना

युद्ध कार्यों में सहायता पहुँचाने के लिये खड़ी कर सकेंगे। नेत्रों के सामने जैसे गोधूलि का अन्धकार छा गया हो। सचमुच कहाँ है हम में वे नारियाँ जिनके बारे में कहा जा सके—

"हूँ बलिहारी राणियाँ भ्रूण सिखावण भाव
नालो बाढ़णारी छुरी भपटे जणियों साव"

खैर, ये बातें कितनी ही महत्वपूर्ण क्यों न हों, कितनी ही आवश्यक क्यों न हो, इनके स्वप्न देखना अपने समाज की वर्तमान अवस्था को देखते हुए कुछ अधिक की आशा करना है। जब चौका, चूल्हा और सास-ननद की समस्याएँ ही हल नहीं हो पाई तो इन सब कार्यों की गुरुता गम्भीरता देखते हुए यही कहना पड़ेगा कि अभी दिल्ली दूर है। गत महायुद्ध के बाद कम अधिक परिमाण में सभी देशों ने कुछ न कुछ उन्नति की है। भारत भी आगे बढ़ा है। शिक्षा, रूढ़ित्याग, समाजसेवा और इस प्रकार के अन्य सब कार्यों में भारतीय नारियों ने पिछले बीस पच्चीस वर्षों में काफी तरक्की की है। अनेकों महिलाएँ अंतर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त कर चुकी हैं। कम से कम स्त्रीशिक्षा का चलन तो अब भारत की सभी सभ्य कहलानेवाली जातियों में हो चुका है। केवल मारवाड़ी समाज ही ऐसा है जिसमें स्त्रीशिक्षा को अभी तक सन्देह की दृष्टि से देखा जाता है। इसका प्रभाव अगली पीढ़ी पर भी पड़ रहा है। जब शिक्षा स्वयं में कोई बुरी वस्तु नहीं है तो उसके पाने से कोई स्त्री कैसे बिगड़ सकती है? किन्तु यह बात अभी तक हमारे समाज के बहुत से ठेकेदारों के मगज में नहीं घुस पाई। इस एक समस्या ने राजस्थानी नारी के सारे उन्नति के मार्गों में काँटे बिछा रखे हैं। आश्चर्य तो यह होता है कि ये ही रूढ़िवादी लोग गार्गी, अनुसूया, मैत्रेयी और मण्डनमिश्र की पत्नी जैसी विदुषियों की विद्वत्ता; मीरा, सहजो और दयाबाई जैसी भक्त नारियों की सामाजिक उपेक्षा; लक्ष्मी, दुर्गावती और पद्मिनी जैसी वीर ललनाओं के पौरुष और पन्नाधाय जैसी देवियों के त्याग की गाथाएँ सुनकर उन पर श्रद्धा के मोती बरसाते हैं किन्तु अपनी कन्याओं बहिनों और पत्नियों की शिक्षा का विरोध करते हैं। शिक्षा की कमी के कारण नारी न आगे पीछे देख पाती है और न उसे अपनी हीनावस्था पर भल्लाहट ही होती है जिससे उसमें आगे बढ़ने की इच्छा जाग्रत हो।

अशिक्षा की प्रसूति है परदा। हमारे मन पर पड़े हुए अज्ञान के परदे को मुँह पर पड़े हुए इस परदे ने दोहरा कर दिया हैं जिससे भूलकर भी प्रकाश की किरण वहाँ नहीं पहुंच पाती। इस दोहरे अन्धकार में हम देख नहीं पाते। यद्यपि मैं जानती हूं कि

इसकी बहुत कुछ जिम्मेवारी पुरुषों पर है तो भी उस पाप का फल तो स्त्रियों को ही भोगना पड़ रहा है। जो पुरुष सबेरे से शाम तक स्वच्छंद सड़कों, होटलों, पार्कों और सिनेमा हाउसों में खुले मुँह घूम सकता है वही अपनी पत्नी को अपने भाई, पिता या मित्र के सामने खुले मुँह नहीं सहन कर पाता। न्याय की कैसी विडम्बना है! परदा हमारे समाज में तो बहुत बेढंगे तौर पर होता है। यों तो देश के अधिक भाग में किसी न किसी रूप में परदा प्रचलित है। अनेक स्थानों पर स्त्रियाँ बाहर निकलते समय अपनी सवारियों तक को परदे से घेर लेती है और अनेक स्थानों पर तो स्त्रियाँ स्त्रियों से ही परदा करती हैं। पीहर में परदा नहीं करती किन्तु ससुराल में परदा करती हैं और वह भी कुटम्बियों से तथा परिचित भद्र पुरुषों से। अपरिचितों, नौकर-चाकरों फेरीवालों, ज्योतिषियों और बिना पगड़ी वालों से नहीं करती। इस परदे ने हमारी पिछली समस्त कीर्ति पर गाढ़ी स्याही पोत दी है। जिन्हें देखने को आंखें हैं और सोचने को मस्तिष्क, वे जानते हैं कि यह परदा हमारे मुख पर ही नहीं सारे कार्यों पर पड़ गया है।

हमारी तीसरी समस्या है वेशभूषा की। हमारा पुराना वेष किन्हीं विशेष परिस्थितियों में, किसी विशेष समय में चुना गया होगा। आज उसकी उपयोगिता नष्ट हो चुकी है। लम्बे-लम्बे भारी भरकम घाघरे, शरीर को अधखुला रखनेवाली अँगिया, कलाई से लेकर कोहनी तक जड़ी हुई चूड़ियाँ पतले और खर्चीले ओढ़ने, बालों पर कसा हुआ बोर, शरीर को बोझिल बना देनेवाले गहने न केवल अपव्यय की दृष्टि से बल्कि स्वास्थ्य और सौन्दर्य के ख्याल से भी हानिकारक हैं। वेष ऐसा होना चाहिये जो कम खर्चीला हो, जिसे धारण करने में सहूलियत हो, शरीर में फुर्ती रहे, स्वास्थ्य सुन्दरता और नारी मर्यादा की रक्षा में सहायक हो। किन्तु हमारी वर्तमान वेशभूषा उपर्युक्त किसी भी दृष्टि से ठीक नहीं है। सुधार या उपहास की भावना से हमारे पहिनाव के जो चित्र वर्षों से पत्र-पत्रिकाओं में छपते आ रहे हैं उनसे हमारा कम उपहास नहीं हुआ किन्तु फिर भी अभी हमारे कानों पर जूँ तक नहीं रेंगी।

बाल विवाह, वृद्ध विवाह और अनमेल विवाह वैसे तो सभी प्रान्तों और जातियों में प्रचलित हैं किन्तु हमारे यहाँ इनका भीषणतम रूप देखने में आता है। इनमें भी बाल विवाह तो बहुत अधिक प्रचलित है। वर्षों के आन्दोलनों, मेजतोड़ व्याख्यानों और शारदा एक्ट के पास हो जाने के बावजूद भी इस दिशा में कोई उल्लेखनीय प्रगति नहीं हो पाई। अभी तक अधिकांश माता-पिता 'गौरी' 'रोहिणी' और सब से निकृष्ट

'कन्या' के दान से पुण्य कमाकर वैतरणी पार करने का प्रबन्ध करते ही जाते हैं। मुझे ऐसे माता-पिताओं के उदाहरण मालूम है जो पुत्र या पुत्री के विवाह के दो चार वर्ष पूर्व से ही उनकी उम्र बढ़ा बढ़ाकर बताना आरम्भ कर देते हैं जिससे उन पर शारदा कानून के अनुसार मुकेदमा चलाने का किसी को साहस ही न हो। न जाने ये धर्माचार्य माता-पिता कब अबोध बाल विधवाओं के आसुओं से तर्पण पाने का लोभ छोड़ सकेंगे।

दहेज के कारण समाज की सुन्दर व्यवस्था में बहुत अधिक बुराई आ गई है। समाज का कार्य है निष्पक्ष व्यवस्था करना और निष्पक्ष न्याय करना। किन्तु समाज तो 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' वाली बात कर रहा है। आखिर यह दहेज प्रथा है क्यों? इसमें खुल्लमखुल्ला लड़की का अपमान और उसका छोटापन महसूस किया जाता है। गुजरातियों में यह प्रथा आज नहीं है। कई वर्गों ने यह नियम बनाया है कि जो लड़का सगाई के समय लड़की के नाम से एक निश्चित रकम बैंक में जमा करा देगा वही सगाई कर सकता है। इस प्रकार का बन्धन तो कुछ समझ में आ सकता है। वास्तव में गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने के पहिले वरवधू के पास थोड़ीसी रकम होना अत्यावश्यक है। प्रेम-विवाह की बात दूसरी है। इसकी जवाबदारी समाज पर नहीं। किन्तु समाज के नियमानुसार शादी के समय लड़के में इतनी योग्यता चाहिये कि वह अपनी गृहस्थी का भरण-पोषण कर सके। दहेज का बन्धन लड़की के पिता पर होना समाज की बहुत बड़ी कमजोरी है। इस दहेज को कानूनन बन्द कर देना चाहिये और कानून से साम्पत्तिक अधिकार स्त्री को जरूर दिया जाना चाहिये। दहेज तो इच्छा पर निर्भर है। वह तो भेंट के रूप में लड़कों को, बहू को, बहिन को तथा मित्र को दिया जा सकता है किन्तु रूढ़ि बनाकर उसका पोषण करना समाज के एक अंग को बहुत कमज़ोर कर देना और अपमानित करना है। दहेज के कारण लड़की के पैदा होने पर सारे घर में शोक छा जाता है और अपशब्दों द्वारा उसका अपमान भी किया जाता है। जब स्त्रियों को भी साम्पत्तिक अधिकार होगा तो कोई उन्हें छोटा न समझेगा और पैदा होने पर न कोई अपमान ही करेगा। साम्पत्तिक अधिकार पाकर स्त्रियाँ बिगड़ जायँगी या उनके स्वाभाविक गुण नष्ट हो जायँगे यह सोचना भी पाप है। आर्थिक अधिकार पाकर वे अपने में कुछ शक्ति का अनुभव करेंगी, उनका स्वाभिमान, और तेज बढ़ेगा। फिर वे अपने स्वाभाविक गुण, दया, ममता, स्नेह, सेवा, त्याग और बलिदान का प्रयोग दबकर नहीं खुले दिल से कर सकेंगी और उसी में स्त्रियों की वास्तविक इज्ज़त होगी। समाज में सुखशांति

बढ़ेगी। आज तो ऐसा दिखाई देता है कि ये सब ममता, दया, सेवा, त्याग, बलिदान आदि स्त्रियों से गर्दन दबाकर जबर्दस्ती से बन्धन से कराये जाते हैं। 'जिमि स्वतन्त्र हुइ बिगरहि नारी' यह कथन स्त्रियों का घोर अपमान है। सदियों के इस अपमान से वे अपना सारा आत्माभिमान भूलकर पशु तथा शूद्रों की श्रेणी में आ गई हैं। किन्तु आज नारी ने करवट बदली है। आँखें मलकर दुनियाँ देख रही हैं। वह फिर वीर माता, वीर पत्नी, वीर पुत्री, वीर भगिनी तथा प्रकाशमान भारतीय नारी होना चाहती हैं। अब वह अपना और पतन सहन नहीं कर सकती।

महिलाओं की वर्तमान परवशता को देखते हुए इतना निश्चित ही कहना पड़ेगा कि महिलाओं को किसी न किसी रूप में आर्थिक अधिकार मिलना चाहिये किन्तु वह किस रूप में मिलना चाहिये यह भी विचारणीय है। कानून बनाया जाता है समाज की सुख शान्ति और धर्म रक्षा के लिये।

मेरे विचार से स्त्री और पुरुष दोनों ही को कुछ बन्धनयुक्त आर्थिक अधिकार होने चाहिये। बहुत से पुरुष भी ऐसे हैं जो पैसे का दुरुपयोग करते हैं। उसी प्रकार सम्भव है कुछ स्त्रियों में भी यह बात आ जाये। इस लिये जहाँ तक हो स्थायी जायदाद की आमदनी पर ही यह बन्धन हो स्वयं की कमाई के लिये वे स्वतन्त्र रहें। आज भी हिन्दू स्त्रियों को कुछ आर्थिक अधिकार है किन्तु वे स्टेट को बेच नहीं सकती। सम्भव है पुरुषों पर यह कानून लगाया जाय तो वे एतराज करें और व्यक्तिगत व्यापार की दृष्टि से भी उन्हें कुछ आपत्ति हो किन्तु घर की सुख शान्ति के लिये अचल सम्पत्ति को बेचने का अधिकार तब तक न होना चाहिये जब तक उस जायदाद से संबंधित व्यक्तियों को भी अनुमति न ले ली जाये।

सच तो यह है कि हमारे सामाजिक सिद्धान्त आज की दृष्टि से उपयोगी नहीं सिद्ध हो रहे हैं। स्त्रियों की दशा तो उनसे दिन पर दिन बिगड़ती जा रही है। इसी लिये आज की शिक्षित नारी सामाजिक बन्धनों को तोड़ फेंकना चाहती है। विद्रोह उसकी नस-नस में समा गया है। इस विद्रोह का स्वागत होना चाहिये। पर साथ ही हम यह भी ध्यान रखें कि आवेश में निर्माण करने की शक्ति नहीं होती उसके लिये शान्त मस्तिष्क की आवश्यकता होती है। अभी हम अपना पथ ठीक ठीक निर्धारित नहीं कर पाये हैं और वह तब तक निश्चित हो भी नहीं सकता जब तक हमारी बहनें शिक्षित न हों। आज नारीसमाज की सब से बड़ी आवश्यकता है शिक्षा। इस एक समस्या का हल सारी समस्याओं का हल है।

———

हमारी विवाह–प्रथा

जब मानव में बुद्धि का प्रकाश हुआ, सोचने की शक्ति आई, तो स्वाभाविक ही था कि वह संसार की विविधता पर चिन्तन कर किसी निर्णय पर पहुँचने का प्रयत्न करता। हमारा सामाजिक विधान इसी मन्थन का फल है। झुण्ड बनाकर रहने की प्रवृत्ति तो जंगली पशु-पक्षियों में भी कम अधिक परिमाण में पाई जाती है। इन झुण्डों में भी हम एक हिरन का एक ही हिरनी के साथ, एक कबूतर का एक ही कबूतरी के साथ गाढ़ स्नेह देखते हैं। तब बुद्धिमान मनुष्य कितने दिन बेलगाम और उच्छृंखल जिन्दगी बसर कर सकता था। अतः बुद्धि-विकाश के साथ ही साथ मानव ने अपनी इच्छानुकूल सहचरी या सहचर लेकर जीवन–यापन करना विशेष सुखकर एवं शान्तिदायी समझा होगा। साथ ही नवकल्पित होने से विवाह बन्धन ढीले और उदार भी रहे होंगे। पीछे स्वार्थ और सभ्यता के विकाश के साथ जटिलता की वृद्धि हो जाने के कारण वे एक-पक्षीय एवं संकुचित होने लगे। कृषि के विस्तार के साथ स्त्रियों को तो पुरुष ने अधीन कर ही लिया था। तभी एकपक्षीय बन्धन मान्य हो सके। आश्चर्य की बात है कि प्राचीन काल की स्वतन्त्र स्त्रियाँ दूसरे पक्ष को आज़ाद छोड़कर स्वयं मकड़ी के समान जाल में कैसे फँस गई ? फिर भी देखा जाय तो उस समय की स्त्रियों के वैवाहिक बन्धन आज के समान कठोर नहीं थे। जिन सावित्री, सीता, द्रौपदी और दमयन्ती के सतीत्व की दुहाई हम दिया करते हैं उनके साथ सत्यवान, राम युधिष्ठर और नल भी एक पत्नी-व्रत के उज्वल उदाहरण हैं। उत्कट पतिप्रेम में सती होना या अत्यन्त पत्नीप्रेम में बड़े-बड़े राज्यों को ठुकराने के उदाहरण आज भी मिलते हैं।

जीवन की अनेक महत्वपूर्ण समस्याओं में वैवाहिक समस्या भी अपना निजी महत्व रखती है। वैवाहिक समस्या को समाज की मुख्य समस्या कहा जाय तो भी

अत्युक्ति न होगी क्योंकि समाज का दुःख-सुख बहुत कुछ इसी समस्या पर आधारित है। मनु के समय में आठ प्रकार के विवाह प्रचलित थेः—१—ब्राह्म, २—दैव, ३—आर्ष, ४—प्राजापत्य, ५—आसुर, ६—गान्धर्व, ७—राक्षस और पैशाच। वेदशास्त्रज्ञ सदाचारी वर को बुलाकर, वर कन्या को वस्त्र पहनाकर आदर सत्कार के साथ वर को कन्या देना ब्राह्म विवाह कहलाता था। ऋत्विक का कर्म करने वाले को भूषित कन्या का दान करना दैव विवाह कहा जाता था। धर्मादि विधि के निमित्त एक या दो बैल वर से लेकर उसको विधिपूर्वक कन्यादान करना आर्ष विवाह कहलाता था और तुम दोनों साथ-साथ रहकर धर्माचरण करो, ऐसा कहकर वर कन्या के पूजनपूर्वक कन्यादान करना प्राजापत्य विवाह कहलाता था। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चारों वर्णों को उक्त पाँचों प्रकार के विवाह करने की आज्ञा शास्त्रों ने दी थी और पहिले इसी प्रकार के विवाहों की अधिकता थी। यह स्मरण रहे कि ये पाँचों प्रकार के विवाह वर कन्या की सम्मति से उनकी इच्छानुसार ही होते थे। उक्त आठों प्रकार के विवाहों में आसुर, पैशाच और राक्षस विवाह निंद्य समझे जाते थे। यद्यपि इनकी संख्या भी बहुत थी और ये धर्म के प्रतिकूल नहीं समझे जाते थे। फिर भी इन विवाहों को करने वाले समाज में श्रेष्ठ नहीं माने जाते थे। कन्या के पिता को बहुतसा धन देकर बिना कन्या की अनुमति के स्वेच्छा से विवाह करना जिसे आज कन्या-विक्रय कहते हैं, आसुर विवाह कहलाता था। सोती हुई मतवाली या ज्ञानहीन कन्या का एकान्त में सतीत्व **नष्ट कर पुनः** उससे विवाह कर लेना पैशाच विवाह; प्रतिद्वन्द्वियों या कन्या के अभिभावकों से युद्ध कर किलों को तोड़, फोड़, लूटमार कर रोती हुई कन्या को हरण कर विवाह करना राक्षस विवाह कहलाता था। कन्या की इच्छा से युद्ध करके ले जाने के उदाहरण प्राचीन और मध्ययुग में भी अनेक मिलते हैं। जैसे कृष्ण, अर्जुन, पृथ्वीराज राजसिंह आदि।

प्राचीन काल में स्वयंवर प्रथा थी और काफी सम्मानित और धार्मिक भी समझी जाती थी। किन्तु राजा महाराजाओं में ही इस प्रथा का अधिक प्रचलन था। स्वयंवर और गान्धर्व विवाह में कन्या को पति चुनने की पूरी स्वतन्त्रता रहती थी। वे एक दूसरे के गुण-दोषों, बल-वैभव रीति-नीति रूप और विचार आदि से परिचित होकर विवाह करते थे। इन दम्पतियों में परस्पर कटुता उत्पन्न होने का मौका नहीं आता था। इनके प्रेम की अमृतमयी मधुरता दिन-दिन बढ़ती जाती थी। आज भी अनेक

घरों में कहीं-कहीं कन्या और वर की स्वीकृति ली जाती है। यह भी स्वयंवर का, आंशिक रूप ही है किन्तु इसमें स्वभाव और गुणों का परिचय नहीं हो पाता। फिर भी वर कन्या को काफी समाधान रहता है और वे बिवाह के लिये अपने को उत्तरदायी अनुभव करते हैं। किन्तु ऐसे विवाह होते कितने हैं? और इनमें भी दहेज प्रथा तो गहरे पाँव गड़ाये हुए हैं। प्राचीन पाँच उत्तम और तीन अधम इन आठ प्रकार के विवाहों में आज किस प्रकार की विवाह-प्रथा चल रही है? बेटी दामाद को वस्त्राभूषण देकर बिदा करना ब्राह्म प्रणाली है? दामाद विद्वान और सुशील चाहिये। किसी अंश में यह भी मान लिया जाता है। परन्तु मगनी होने के दिन से ही वस्त्राभूषण, रुपये, मेवे, फल, मिठाई आदि देना शुरू हो जाता है और विवाह के दिन सेना के रूप में बड़ी सजधज के साथ बारात ले जाई जाती है। इस बारात के प्रत्येक सिपाही के अलग-अलग नखरे रहते हैं। अलग-अलग माँगें रहती हैं। दीन हीन वेष में हाथ जोड़े बेटी के बाप को प्रत्येक की मनुहार करनी पड़ती है। यदि तनिक भी गलती हो गई तो बारात के सिपाही पैंतरे बदलने लगते हैं और दल-बल सहित जूझने को तैयार हो जाते हैं। यह देखकर बेटी का बाप और भी घबड़ा जाता है। कहीं-कहीं बारातियों की भी कपड़े, बर्तन, रुपयों आदि से मुट्ठी गरम करनी पड़ती है। दामाद के माँ-बाप भाई-बहिन नाना-मामा जीजा-फूफा ताऊ-चाचा और मित्रों आदि की उनके पद के अनुसार अलग-अलग भेंट रहती ही है। किसी को नजर पसन्द न आई तो मुँह बनाकर बेटी के बाप को चैलेंज देने के लिये तैयार हो जाता है। यदि दामाद के पिता के नजराने में कमी रह गई तो फिर खासा युद्ध छिड़ गया; जैसा कि राक्षस विवाह में हुआ करता था। अब कहिये इस प्रकार के विवाहों को क्या नाम दिया जाये? प्राचीन ब्राह्म और राक्षस के मिश्रण से आज के विवाह की काया बनी है। इसी प्रकार बाल विवाह, अनमेल विवाह, वर वधू के बिना पारस्परिक परिचय के विवाह, बहुविवाह आदि अनेक रूपों में आज की विवाह-पद्धति विकृत हो गई हैं। ईश्वर की कृपा समझिये जो बाल-विवाह अधिक दिन नहीं चल सका। अन्यथा इस समाज का मानव भी कीड़े-मकोड़े की तरह ऋतु-ऋतु के अनुसार पैदा होने वाला और मरनेवाला बन जाता अथवा दो-दो तीन-तीन फीट लम्बी और आठ-दस साल की आयु तो शायद निकट भविष्य में दिखाई देती।

बाल-विवाह के दुष्परिणाम को आज भी बहुत से लोग नहीं जान पाये और वे सनातनी होकर भी सनातन को नहीं मानते। ईश्वर की कृपा है कि यह समस्या एक

सीमा तक सुलझ गई है और निकट भविष्य में सुलझती दिखाई पड़ रही है। फिर भी अनमेल विवाह की रफ्तार कब तक चलेगी, कह नहीं सकते। अनमेल विवाह शारीरिक और मानसिक दो प्रकार के होते हैं। बूढ़े के साथ युवती या बालिका बाँध दी जाय अथवा युवती के साथ बालक का विवाह कर दिया जाय, कुरूप वर के साथ सुन्दरी वधू या कुरूप वधू के साथ सुन्दर वर जोड़कर काक-हंस का गठबन्धन करने का प्रबन्ध किया जाय। पुरुष छै फीट का तो स्त्री तीन फीट की, या स्त्री पांच फीट लम्बी और पुरुष चार फीट का। स्त्री गोल-मटोल बोरे के समान स्थूल और पुरुष दुबला–पतला कार्टूनसा, यह सब शारीरिक वैपरीत्य है। मानसिक अनमेल इनसे भी अधिक घातक होता है। जैसे लड़का ग्रेजुएट और लड़की अपढ़, इसी प्रकार लड़की ग्रेजुएट और लड़का अपढ़; लड़की अपटुडेट और लड़का लकीर का फकीर; लड़की नास्तिक और लड़का आस्तिक। कुछ ही लोग ईश्वर के आशीर्वाद से ऐसे होते हैं जो एक दूसरे के अनुकूल बनकर जीवन-नैया को शान्ति और मधुरता से पार ले जाते हैं अन्यथा अनमेल ही प्रत्यक्ष दिखाई देता है। इस प्रकार अनमेल विवाह से जीवन भार बनाना आत्म-विनाश करना है। जीवन की श्रेष्ठता के लिये, शारीरिक, मानसिक, सामाजिक और सांसारिक सुख, आध्यात्मिक साधना, परोपकार और शुभ कर्मों के लिये उचित समय पर इच्छानुसार योग्य साथी के साथ विवाह होना आवश्यक है। जीवन में पति-पत्नी के रूप में योग्य साथी मिलने पर कितनी अद्भुत तृप्ति होती है! कैसा अनुपम सुख मिलता है! मनुष्य जीवन को सार्थक समझ लेता है। अन्यथा सारा जीवन बेकार या किसी दूसरी दिशा में जा गिरता है।

डाक्टरों का कहना है कि २०, २५ वर्ष की अवस्था तक युवक और युवतियों का विवाह हो जाना चाहिये। नहीं तो स्वास्थ्य में गड़बड़ी होने का डर रहता है। स्त्रियों की तो प्रजनन शक्ति भी कमजोर पड़ जाती है। भारतीय नीतिशास्त्रों ने भी वेद-वेदांग शिक्षा समाप्त होने के साथ ही विवाह का समय बताया है। आज कुछ पाश्चात्य विचारों से प्रभावित लोग विवाह को एक व्यर्थ बन्धन और उन्नति का बाधक मानने लगे हैं। उनकी दृष्टि में इसका मूल्य अधिक नहीं है। अतः विवाह भी एक जटिल समस्या बनता जा रहा है। उन्हें विवाह व्यवस्था के विषय में भ्रम है। उनके विचार से विवाह मानों स्वतन्त्रता को नष्ट करनेवाला तथा उसकी प्रगति के मार्ग का रोड़ा है। इससे व्यक्तित्व कुचल जाता है। इसके द्वारा स्त्रियाँ दासी बनाकर रखी

जातीं एवं उन पर अनेक अत्याचार किये जाते हैं विवाह शुद्ध प्रेम पर आश्रित न रहकर स्त्रियों की गुलामी का एक साधन बन गया है। स्त्रियों की वैवाहिक गुलामी बहुत कुछ उनकी आर्थिक परतन्त्रता पर अवलंबित है। विदेशों में जहाँ स्त्रियों के आर्थिक स्वतन्त्रता है वे विवाह रूपी पिंजड़े में कैद नहीं होना चाहती, विवाह के तंग दायरे में जीवन में उदारता, भावुकता, विशुद्ध प्रेम, नहीं मिल सकता, इस विचार के लोग विवाह को आडम्बर मानते हैं। ऐसे विचार रखने वालों की दो श्रेणियाँ हैं। एक तो विलासिता प्रिय और दूसरे आदर्शवादी। पहिली श्रेणी के लोगों के सम्बन्ध में विशेष विचार करने से कोई लाभ नहीं। किन्तु दूसरी श्रेणी जो स्वतन्त्र प्रेम में आदर्श देखती हैं और प्रेम ही को सर्वस्व मानती हैं उस पर विचार करना जरूरी है। मैं भी मानती हूँ कि प्रेम में शक्ति है स्वास्थ्य, सौन्दर्य और सुख है। प्रेम में जीवन है। वह अद्भुत अनुपम आनन्ददायी है। हमारी भाषा में वह स्वर्ग है, ईश्वर है। उसके बिना मानों जीवन शुष्क है, बेकार है, मुर्दा है। हां प्रेम में केवल सुख ही सुख नहीं है, मीरा के वचनानुसार:—

जो मैं ऐसा जानती, प्रेम किये दुख होय।
नगर ढिंढोरा पीटती, प्रेम न करियो कोय॥

वह दुख का घर भी है। यह बात अवश्य है कि प्रेमी को प्रेमी द्वारा कठोर वियोग और अपमान मिलने पर भी उसके हृदय में धुँधलीसी प्रेममूर्ति अवश्य रहती है उसी को वह अपनी कल्पना द्वारा परिमार्जित करता रहता है और उसीके सहारे जीवन नैया को आगे ढकेलता रहता है। किन्तु इसमें विवाह कब बाधक होता है। जिससे प्रेम हो उसीसे विवाह किया जावे। और यदि विवाह की अवस्था ढलने तक भी कोई ऐसा प्रेमी न मिले तो गुण रूप में अनुकूल व्यक्ति को पति-पत्नी रूप में प्रेमी बनाया जाय और प्रेम वहाँ पर केन्द्रित किया जाय अयोग्यता साबित होने पर ईश्वर को लक्ष्य किया जाय। विवाह के बाद कोई व्यक्ति मनोनुकूल प्रेमी मिलने पर भी भाई, बहन, मित्र आदि के समान पवित्र प्रेम रक्खा जा सकता है। प्रेम की पवित्रता की दुहाई देकर विवाह न करने की वृत्ति मेरी दृष्टि में तो कोरी उच्छृंखलता है। पारिवारिक जीवन व्यक्तिगत विकास के लिये प्रथम सीढ़ी है। परिवार की सुख शान्ति के लिये उनके मुखिया को सेवा, त्याग, तपस्या, बलिदान, परोपकार सभी गुणों को उदारता पूर्वक अपनाना पड़ता है और परिवार के प्रत्येक सदस्य में उसे वे गुण भरने का पवित्र प्रयत्न करते रहना होता है। जिस परिवार में सत्य का पालन, बड़ों का आदर, अतिथि-सत्कार, छोटों पर प्यार,

रोगी की सेवा एवं सद्विचारों का विकाश होता है वहां सुख शान्ति रह सकती है चाहे फिर उस परिवार में पति-पत्नी दो ही प्राणी क्यों न हों। बहुविवाह की प्रथा यद्यपि समय के प्रभाव से बहुत कम हो गई है तो भी सामाजिक दृष्टि से उस पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है। इस देश में लगभग सभी जातियों में बहु विवाह की प्रथा रही है। समय ने इस दिशा में बहुत कुछ सुधार किया है किन्तु मैथिली ब्राह्मण आज भी कई विवाह करते हैं और जागीरदारों एवं राजों महाराजों में इस जमाने में भी यह प्रथा चालू है। आज यदि एक पत्नी के मरने पर दूसरी शादी जल्दी से नहीं तय हो जाती, तो लोग प्रश्न करते हैं, कि अमुक व्यक्ति में क्या दोष है जो पत्नी के मरने को छै महीने या साल पूरा होने आया, पर अभी तक विवाह नहीं हुआ। इस सम्बन्ध में कई स्त्रियों से मेरी बात हुई है। मेरे यह कहने पर कि अभी आप की बहू को मरे बारह दिन भी नहीं हुए और आपने लड़के की सगाई भी कर ली, उन्होंने उत्तर दिया, यदि महीने पन्द्रह दिन में विवाह न कर लिया जाय तो फिर लड़की जल्दी नहीं मिल सकती। यह है वर की योग्यता! लड़की मरने पर बहुतसी जगह श्मशान, में ही दूसरे विवाह की बात पक्की हो जाती है, और लड़के के लिये हथलेवे की गुनहगार लड़की को भी आजीवन रोना पड़ता है। जो पुरुष स्त्री के मरने पर साल छै महीने भी बिना स्त्री के नहीं रहना चाहता वही एक अबोध बालिका की समस्त आयु को, उसके उगते अरमानों को समाज के कानूनों की कठोर चक्की में पीस-पीस कर नष्ट कर देता है। वह पुनर्विवाह ही नहीं कर सकती हो सो बात नहीं है। वह अच्छा खा नहीं सकती, अच्छा पहिन नहीं सकती, हँस बोल भी नहीं सकती, यदि अचानक किसी के सामने आ जाय तो अपशकुन! लिखना, पढ़ना आध्यात्मिक जीवन बिताना संतसंगति में बैठना किसी राष्ट्रोपयोगी संस्था की सेवा में जीवन बिताना आदि किसी प्रकार की भी सुविधा उसके सन्तोष के लिये समाज ने नहीं बना रक्खी है। और दूसरी ओर जवान विधवा बहूबेटी के सामने ६० वर्ष का वृद्ध अपनी बहू बेटी से भी कम उमर की स्त्री से विवाह कर निर्लज्जता के साथ मूछों पर खिजाब चढ़ाता रहता है।

प्राचीनकाल में यहाँ के बड़े-बड़े वीर विद्वान, चीन, जापान, अमेरिका आदि स्थानों से कन्यायें व्याह लाते थे इसका प्रमाण मिलता है। इसी प्रकार ब्राह्मण को चारों वर्णों में क्षत्रियों को ब्राह्मण छोड़कर अन्य तीन वर्णों में और वैश्य को ब्राह्मण क्षत्रिय छोड़कर शेष दो वर्णों में विवाह करने की शास्त्र ने अनुमति दी है। प्राचीनकाल की विवाह सम्बन्धी उदारता और शास्त्राज्ञा को ताक पर रखकर आज एक वर्ण में भी

विवाह की प्रथा बन्द हो गई है। अन्तर्देशीय या अन्तर्जातीय की बात ही क्या, एक ही जाति में सम्बन्ध नहीं होते। इसी प्रकार वैश्यों में दस्से, बीसे, अग्रवाल, माहेश्वरी आदि कई विभेद हैं। वैसे तो अन्तर्जातीय या अन्तर्राष्ट्रीय विवाहों के उदाहरण भी आज मिलते हैं और कहीं कहीं विधवा विवाह के भी मिल जाते हैं किन्तु समाज उन्हें हीन ही दृष्टि से देखता है। उनके साथ रोटी–बेटी का व्यवहार भी पसन्द नहीं करता। पूर्वकाल में अन्तर्राष्ट्रीय विवाह तो काफी सम्मानपूर्ण माने जाते थे। क्योंकि आज की तरह उस समय यातायात के साधन इतने सरल और इतने सुविधाजनक न थे। उस समय अमरीका आदि स्थानों में जाना मानों दूसरी दुनियाँ में ही जाना था और वहां की कन्याओं को ले आना भी काफी बहादुरी का कार्य समझा जाता था। पुनर्विवाह अथवा विधवा विवाह तो आज प्रथम विवाह की या विधुर विवाह की तरह विधि पूर्वक होते हैं किन्तु नातरा में विधिवत विवाह नहीं होता। इसमें असंस्कृत रीति-रिवाजों का चलन है जिससे स्त्री को काफी अपमानित होना पड़ता है। अतः नातरा प्रथा को पुनर्विवाह में शामिल कर लिया जाय तो स्त्रियाँ अपमान और अपसंस्कार से बच जायँ। विवाह की भाषा भी वह होनी चाहिये जिसे वर वधू समझ सकें। आज वर वधू की ओर से पंडित पुरोहित ही प्रतिज्ञायें बोल लेते हैं। जिन्हें प्रतिज्ञा लेनी होती है वे न तो उस प्रतिज्ञाओं का (शास्त्राज्ञा का) अर्थ ही समझ सकते हैं और न धर्म ही। जिसमें बालक वर-वधू तो खेलने, खाने, पहिनने, गीत, बाजे, हँसी मजाक सुनने के सिवा विवाह को कोई मानी ही नहीं समझते। यह तो लेखिका के स्वयं अनुभव की बात है। अतः विवाह की भाषा राष्ट्र-भाषा या जनता की बोल-चाल की सुचारु और शुद्ध भाषा हो। जिसे परिजन, पुरजन और वर वधू, आसानी से समझ सके उसी भाषा में माता-पिता, चाचा-चाची, भाई–बहिन आदि रिश्तेदार, पड़ोसी, समाज, नगर और राष्ट्र के प्रति नवदम्पत्ति को कर्तव्य समझाया जाय। क्योंकि वे अपने सिर पर एक बड़ीसी जवाबदारी लेकर नवीन जीवन मे, नवीन आश्रम में प्रवेश करते हैं। विवाह के समय उनमें वे भाव जागृत करने चाहिये जिनका यथार्थ पालन उन्हें अब करना है। उन्हें मालूम होना चाहिये कि अभी तक वे देश की संपत्ति से पढ़-लिखकर इतने बड़े स्वस्थ सुन्दर बलवान और ज्ञानवान हुए हैं। अब उन पर देश समाज और माता-पिता के प्रति बड़ा भारी उत्तरदायित्व आ गया है।

भावुक रहने के कारण स्त्रियों के मन पर परिस्थिति के अनुरूप भाव अधिक

तीव्रता के साथ अधिकार कर लेते हैं। इसी लिये उनके मन को उनकी शिक्षा को अधिक सुसंस्कृत बनाने और उच्च भावनाओं को जाग्रत करने की आवश्यकता है। किन्तु हम देखते हैं प्रारम्भ ही से उनमें हीन भावना जाग्रत की जाती है। सम्भव है यह दीन भावना, विनय, नम्रता, सहनशीलता और अहंकार रहित होने में मदद देती। किन्तु ज्ञान के साथ नहीं, मूर्खतावश सुशिक्षित कन्यायें अपने प्रति हीन भावना सहन नहीं करना चाहतीं। जब कि वे विनय नम्रता आदि गुणों को खूब पसन्द करती हैं। दहेज प्रथा भी कन्याओं में उदार भावों को जाग्रत नहीं होने देती। वे देखती हैं घर में उसके दहेज की चिन्ता के मारे माता-पिता बड़े-बूढ़े कितने परेशान रहते हैं। और फिर भी सास संसुर आदि दहेज में आये हुए वस्त्राभूषण, वर्तन, मेवा, मिठाई आदि वस्तुओं को हाथ में लेकर इस प्रकार देखते हैं और मोल भाव आँकते हैं मानों व्यापारी से उन्हें वे सब चीजें खरीद करनी हैं। यदि सास ससुर आदि को दहेज की वस्तुयें पसन्द आगईं तो कन्या बेचारी का दिल उछल पड़ता है नहीं तो ६६ प्रतिशत दहेज नापसन्द होता है और वह भी उन लोगों के द्वारा जो स्वयं अपनी कन्या के दहेज के लिये उतने ही चिंतित हैं और जितना पाया उतना भी देने में असमर्थ हैं। प्राचीन विवाह में दहेज को स्थान नहीं था।

सिर्फ दैव विवाह में कन्या दामाद को वस्त्राभूषण से सुसज्जित करके बिदा करने का उल्लेख है। दहेज के लिये ठहरौनी या दहेज माँगने की प्रथा को तो मनुस्मृति में स्थान ही नहीं है। मनुस्मृति में तो यहाँ तक कहा है कि बहू के नैहर की कोई भी वस्तु अपने काम में लेना उतना ही पाप है जितना कन्या के ससुराल की। आज बहुत से सनातनी कन्या के घर का पानी भी नहीं पीते किन्तु बहू से अधिकाधिक दहेज लेते हैं। कन्या के घर का पानी न पीने में तो विशेष बुराई नहीं है किन्तु कन्या विक्रय में और बहू का धन लेने में महान पाप है। मनुस्मृति को मानने वाले भाई अपने धार्मिक विचारों का सामंजस्य किस प्रकार बिठाते हैं मालूम नहीं। आज दहेज प्रथा के कारण सुन्दर सुशिक्षित योग्य कन्याओं को योग्य वर मिलना कठिन हो गया है। कहीं-कहीं तो माता-पिता को घर द्वार बेचकर कन्या का ऋण चुकाना अर्थात् विवाह करना होता है। समय की उथल-पुथल अब इस अनीति को बहुत दिन न चलने देगी।